प्रकाशक
किरणकुंज, समस्तीपुर (बिहार)

प्रथम संस्करण

मूल्य
आठ रुपये

चित्र-शिल्पी
मोतीराम (जम्मू)

पिता-तुल्य

माननीय श्री सत्यनारायण सिंह जी

मन्त्री, भारत-सरकार

के द्वारा

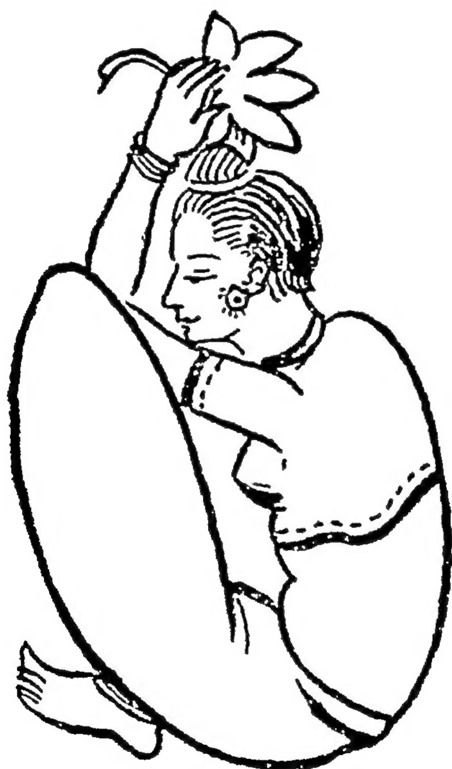
साहित्यानुरागी

श्रद्धेय

मिथिलेश श्री कामेश्वर सिंह जी

को

सप्रेम समर्पित



कवि अरुण   शब्द-चित्र

* जन्म—कार्तिक पूर्णिमा की रात १९२५ ई०
* बचपन मे ही काव्य संगीत-नृत्य और चित्रकला की अभिरुचि
* प्रसिद्ध आलोचक प० शान्तिप्रिय द्विवेदी जी की वाणी में—
  "हिन्दी की नवीन पीढी के कलात्मक अग्रदूत !"
* विदेह और विद्यापति की भूमि पर साहित्य-साधना
* हिमालय, गंगा और शान्तिनिकेतन के वातावरण में कला-सृजन
* जन साधारण की हरियाली पर बैठ कर स्वप्न-निर्माण
* एक साथ पाञ्चजन्य और बाँसुरी की कठोर और कोमल भावनाओं के प्रणेता
* शुद्ध रचनात्मक जीवन का एकान्त साधक । अपनी ही पंक्तियों में—

  आँधियों में आग लाना ही नहीं
  तूफान में दीपक जलाना जानता हूँ

  (तथापि)

  भूमि से आकाश तक मैंने उठायी
  गीत की दीवार यहाँ
  मैं सहारों को भुलाना जानता हूँ !

* १९५३ में बिहार सरकार की राष्ट्र-भाषा परिषद ने सम्मान पत्र के साथ पुरस्कृत किया
* गीत के [illegible] ही दोनों रचनात्मक और [illegible] काव्यों के रचयिता
* [illegible] प्रकाशन के पूर्व इंगलैण्ड, हालैण्ड, बेल्जियम, फ्रान्स, स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी और इटली के साहित्यिक यात्रा
  [illegible] हिन्दी की [illegible] साहित्य-सम्पादन

—प्रभाकर एम० ए०

प्रार्थना के फूल

देह के युग में 'विदेह' की रचना कर मैंने काल के हाथ में एक कमल रख दिया है, जिसकी पखड़ियो पर अतीत के कुछ ओस हैं और आज की किरण। इसलिए मुझे विश्वास है कि मैंने विश्व-भारती के सम्मुख विचारों का कोई अपराध नहीं किया है। किन्तु इतना तो मानना पड़ेगा कि मेरी कल्पना ने हिमालय और गंगा से पर्याप्त बातें की हैं। यो, इस काव्य की समाप्ति के पूर्व ही मैंने यूरोप की अलका देख ली है। पानी निर्मल हो या नहीं, पर गंगा और नर्मदा के विस्तृत किनारो से टेम्स और राइन के किनारे स्वच्छ अवश्य हैं। 'विदेह' अतीत भारत का एक ऐसा चित्र है जो अन्तर्राष्ट्रीय कला-प्रदर्शनी में रखा जा सकता था। पर एक नवीन कलाकार के हाथ में विद्यापति की तूलिका मिली। इसलिए नवीनता ने युग के आदेश से प्राचीनता के दुर्ग-द्वार को खोल दिया है। जब-जब मैंने हिमालय की चोटियो को देखने की चेष्टा की, एशिया के विविध भाग से मानवता पुकार उठी। और, मैं 'विदेह' के प्राणो में ऐसा संगीत भरने लगा जो दूर-दूर तक सुना जा सके। किन्तु विमान पर उड़ने वाले राम को वायुयान पर कैसे उडा पाता ! सीता को आधुनिक साडी पहना कर काव्य प्रगतिशील नहीं हो सकता।

'विदेह' की सृष्टि व्यापक चरित्र की दृष्टि से हुई है। राजर्षि जनक की महिमा प्राचीन ग्रंथो में वर्णित है। फिर भी, युग और साहित्य के निर्देशानुसार मिथिला के विख्यात महामानव पर यह काव्य लिख कर मैंने कलात्मक आनन्द का अनुभव किया है। कहीं-कहीं कल्पना ने ऐसी भी क्रीड़ाए की हैं जिनके इंगित से चांद के अर्ध भाग पर घटा घिर जाती है। इतिहास के माध्यम से 'विदेह' का मूल्याकन करना साहित्यिक न्याय की मर्यादा को कम करना होगा। कला की निर्झरी अपनी गति के अनुसार ही धरती पर विचरती है।

क्या 'विदेह' एक महाकाव्य हो गया ? इस सत्य-समाधान के लिए विश्वास को तर्क से स्वीकृति लेनी पडेगी। सम्भव है, आचार्यो की उदारता मेरे लिए प्रसन्नता के फूल बरसा दे और आलोचना की आखो से रक्त के अश्रु भी ढुलक पड़ें ! पर इतना तो सच है कि 'विदेह' की मूर्ति साधारण

पत्थर की नहीं, संगमर्मर की है जिस पर धूप और चादनी की प्रखर-स्निग्ध रोशनी पड़ी है। इसीलिए कहीं दिव्यता और कहीं सुकुमारता के दर्शन होते हैं। गुलाब की डाल में काटों की कल्पना न करना भी प्राकृतिक सुन्दरता से दूर रहना है। शुभ्र चन्द्र-मुख पर काली भौंहे ही अच्छी लगती हैं। कला में इतनी निष्ठुरता नहीं कि कोमल कपोल के नैसर्गिक तिल को हटा कर सहज सौन्दर्य की शोभा मिटा दे।

'विदेह' के मुख से जो विचार व्यक्त हुए हैं, वे उपदेश नहीं, वीणा की वाणी हैं। नीर और क्षीर के सगम पर काव्य का हस बार-बार डुबकिया लगा कर तैर रहा है। मिथिला में जन्म लेकर विदेह के प्रति मेरी आन्तरिक भक्ति भी प्रकट हुई है, जिसके लिए मैं सहर्ष दोषी भी ठहराया जा सकता हूँ। जिनेवा (स्विट्जरलैण्ड) के रमणीय कला-कुज में एक साहित्यिक तरुणी ने मुझ से कहा था कि मुझे स्वर्ग की मिट्टी पर जन्म लेने का गौरव प्राप्त है। क्या पश्चिम की शैली की तरह मैं भी कह दूँ कि जनक की ज्ञान-भूमि पर मेरी रचना का भी जन्म हुआ है! पर ऐसा कहना भारतीय प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं। मिथिला की सीता समस्त देश की सीता है। विदेह की उदारता सम्पूर्ण भारत में फैली हुई है।

इस काव्य के वन में विविध प्रकार के फूल और फल हैं। मेरे श्रम की सफलता तब प्राप्त होगी जब सभी विचार के पाठक इसकी पगडण्डियों पर विचरण कर सकेंगे। 'विदेह' में सीता की चर्चा नहीं करना उमड़ी हुई घटा को धरती पर नहीं उतरने देने के समान प्रतीत होता। त्रुटियों के लिए क्षमा मागना मिथिला की परम्परा का नागरिक सकेत है।

[illegible]
१९५८

क्रम

विदेह



प्रथम सर्ग

उज्ज्वल हिमालय-साधना के धवल शिखरोत्कर्ष से
ओ महामानव, ज्वलित योगी, दार्शनिक
सम्राट्-भिक्षुक जनक हे ! उतरो यहाँ
साहित्य की धरती प्रथम लेकर हृदय की वाँसुरी
रस से भरी आमंत्रणा की रागिनी से कह रही—
राजर्षि ! अपने ज्ञान की चिर ज्योति दो संसार को
निज आत्म-बल-आलोक की किरणे मनुज-मन-प्राण पर
रख दो विशाल चरित्र हे !

गंगा-किनारे साधना की भारती करती तुम्हारी वन्दना—
मनुष्यत्व के ओ ग्रथ ! खोलो पृष्ठ जीवन-कर्म के
शब्दावली दो सत्य की आराधना की वीन मे
हिलकोर दो निज साँस की गति-सिन्धु को झकझोर कर
आषाढ की पहली घटा-सी नृत्य का उल्लास दो
ऋतुराज के प्रिय फूल-सा सुरभित सुविकसित हास दो !

तुम वँध सकोगे या नही संगीत की झकार मे
तुम मिल सकोगे क्या नही हे प्राण ! सातो तार मे ?

इतिहास के आकाश मे मै व्यास की वीणा वजाने था गया
कुरु-क्षेत्र मे जव मोह की वदली घिरी
विजली गिरी जव प्रेम की,
अर्जुन अनल की छाँह मे आँसू वहाने लग गया

वह डर गया बन्धुत्व से जययुद्ध के प्रारम्भ मे,
उस समय तब श्रीकृष्ण ने विभ्राट दर्शन-सत्य का
दीपक जलाया एक उठता-सा प्रलय-तूफान मे ।
दी ज्ञान-गीता विश्व को, पर प्रथम कुन्ती-पुत्र को
जिसमे उन्होने कह दिया—हे वीर यह भी जान लो
सब जानते है जनक भी जो बात मैने है कही ।

तब आदि कवि के गीति-वन में मै गया
जिस ओर मिथिला-रागिनी की चाँदनी थी छा रही
स्वर की सुरभि थी उपनिषद् को छू रही
औ,
वेद की कन्या अकेली गा रही थी—
निज पुराणों के विपिन की वीथिका पर हो खडी
सम्मुख पहाडो मे
गुरो की निर्झरी थी झर रही स्वच्छन्द मन्द प्रवाह मे ।
यह देखते ही देखते,
वेदान्त की पुत्री उषा के संग उतरी सत्य पर
साकार उस सौन्दर्य को मैने पुकारा दृष्टि के संगीत से ।

गीता तुम्हारी साधना की ज्योति है हे देवता ।
सीता नहीं है शक्ति क्या उस राम की ?
यदि सत्य है
तो जगत भी है राम है अस्तित्व के स्रष्टा प्रबल
[illegible] जिनकी सुरभि अब भी विश्व मे है फैलती ।
[illegible] यदि सत्य तो सौन्दर्य मिथिला-भूमि है ।

शिव स्वय हो तुम हे जनक, साहित्य मे
सगम तुम्ही हो न्याय प्रेमोत्सर्ग के !

प्रिय पूर्व से जो रश्मि-रजित ज्योति फूटी विश्व मे
जिसमे तुम्हारी साधना का कर्मयोगी सत्य सौरभ भर रहा
वह सृष्टि का सगीत है उस आदि जीवन-काल का
जिसके अमिट प्रतिविम्ब पर मनुष्यत्व बढता जा रहा
ले पूर्णता की कामना इस भूमि पर !

नित नव लहर उठती समस्या की यहाँ
पर बढ रहा है मनुज अपनी राह पर
ले बुद्धि का दीपक हृदय के हाथ में
ले ज्ञान की किरणे तपित शुद्धात्म से ?
अनुभूतियों के मर्म छूते कर्म को
सम्पूर्ण पृथ्वी ही प्रतीक्षा कर रही—
मानव जगत की एकता मे व्याप्त हो
हो न्याय समता पूर्ण इस ससार मे
हों सभी बन्धन-मुक्त अन्तर-ज्योति से !

ओ जनक की मिट्टी ! तुम्हारे योग के औ' भोग के
सगीत उठते नित्य प्राची की सुनहली बीन से !
आलोक-शोभित नीलिमा मे
आत्म के दोनो परो को खोल कर
है उड रहा आशा-कपोत अतीत का
जो कह रहा है मनुज से—
"प्रिय शान्ति ढूंढो सत्य से

शुचि सत्य ढूंढो न्याय से
औ' न्याय ढूंढो कर्म से,
तब स्वर्ग की प्रिय कल्पना साकार होगी भूमि पर
सम्पूर्ण अवनी मुक्त होगी मनुज के तम-भार से ।"

विध्वस के तूफान जब उठते प्रलोभ-प्रमाद से
उड्डीन शुभ्र कपोत की छाया प्रतीची देखती
जब वह लहर-पथ पार करती है कभी ।

वह उड रहा है, और उडता जा रहा है
वह उडेगा लक्ष्य तक आकाश मे
केवल यही कहता हुआ फिर—
शान्ति कहने से नही मिलती कभी
रे, शान्ति मिलती सत्य-शोभित कर्म से
इसके लिए तो क्रान्ति का सघर्ष ही अनिवार्य है ।
वह मनुज योगी भी नही
जो शान्ति का इच्छुक नही—भिक्षुक नही
सम-शान्ति से ही आत्म का आनन्द मिलता सृष्टि मे
कल्पना की बाहे पकडना चाहती उस दीप को
जिसकी सुविकम्पित ज्योति मे
है शान्ति-शीतलता छुपी ।
मनु-नन्द की माता पिलाती दूध मानव-वृन्द को
आनन्द के आँसू लिए विश्राम जीवन-योग मे ।

तब तक मनुजता पूर्ण होगी ही नही संसार में !
"सम्पूर्ण पृथ्वी एक गृह है मनुज का"
—जब तक न यह संगीत गूजेगा हृदय के सत्य मे
मनुष्यत्व का सूरज न उग सकता कभी,
जन-साम्य का शशि खिल नही सकता जगत के प्राण में
हा !
शक्तिशाली मनुज का ही लोभ जीवन-न्याय पर
है तिमिर रखता आ रहा
औ' दीनता, असमर्थता के पाप बढ़ते जा रहें है विश्व में
फिर शान्ति हो कैसे यहाँ ?
पर क्रान्ति के दो पख भी अकुला रहे
अंगार की आँधी कही से उठ रही
औ त्याग की किरणें धरा पर आ रही !

हे विश्व-मानव !
सत्य पर ही भारती मेरी खडी
झकार के जो चित्र वनते जा रहे
मैं कर रहा सग्रह तुम्हारे लिए ही इस भूमि पर ।
अब स्नेह-शोभित न्याय के दृग खोल दो
देखो वहाँ—

मनुज के सिहासन पर वैठ
कौन करता है योग महान
व्योम को भी साँसो मे वाँध
फूँकता है मिट्टी में प्राण !

हिमालय की छाया में मौन
तपस्वी कौन जलाता दीप
कर रहा आलोकित संसार
भावना में वह कौन महीप

धरा पर लिए कर्ममय सत्य
गगन का लिये ज्योति-विस्तार
लिये मनु का विकसित अस्तित्व
सृजन का कौन खोलता द्वार

देह लेकर भी जो कि विदेह
सूक्ष्म है जो लेकर भी स्थूल
शून्य है जिसका जीवन-सिन्धु
ध्वनित हैं उसके दोनों कूल

समाधि में जो कि सदा है लीन
विश्व के शूल-फूल हैं मौन
सहज सुख-दुख में जो अति दूर
महात्मा योगी हैं तुम कौन

तुम्हारी कमल-कल्पना खिली
प्रेम-सर पर जब साधन-सूर्य
लुटाने लगा दिशा की धूल
बजाने लगा किरण का तूर्य

फैलने लगा अरुण संगीत
निमिष-चिर को पाकर चुपचाप
मिली सिद्धि को अमृतासव
हुआ उर में नित्य-सृजनालाप

देवता पीते सुधा प्रशान्त
मनुज पी सकता गरल-समुद्र
स्वर्ग को रही भूमि ललकार
मनुज भी बन सकता है रुद्र

मनुजता के कर मे वह एक
तुम्हारा दीपक है जल रहा
नित्य ढलते रहते रवि-चन्द्र
तुम्हारा सूर्य नही ढल रहा !

तुम्हारे उदयाचल की किरण
इसी मिट्टी के चरण अनन्त
तपस्या की शोभा से दीप्त
मनुजता के सम्पूर्ण दिगन्त

योग मे भोग, भोग मे योग
कठिन कितना है मानव-कर्म
जानते वाल्मीकि औ' व्यास
तुम्हारे तप के अक्षय मर्म

सिन्धु को विन्दु, विन्दु को सिन्धु
समझने वाले हो तुम कौन
स्वयं बन कर मिट्टी की ज्योति
विखरने वाले हो तुम कौन

मनुज के आत्म-ज्ञान की शक्ति
सृष्टि का सत्य स्वय साकार
वही है मानवता-सगीत
आत्म से उठती जो झंकार

कठिनता मे जो कोमल वेणु
बज रही मन्द-मन्द उस पार
वही प्रतिविम्ब तुम्हारा दिव्य
जहाँ धरती की अमर पुकार

द्वार जो खुला हुआ है वहाँ
खोलने वाले हो तुम कौन
मृत्यु के गरल-पात्र मे अमृत
घोलने वाले हो तुम कौन

लिये सिर पर मिट्टी का भार
ज्ञान मे भर कर कर्म-पुकार
योग मे कर जीवन को व्याप्त
आ रही है किसकी झकार

मरण को लिये मरण से दूर
कौन तुम जीवन-मय सगीत
दिव्य इतिहास-क्षितिज पर खडे
धरा को देते ज्योति अतीत

नीति को कर्मासन पर बिठा
कर रहा कौन आत्म-सन्धान
मनुज के सिंहासन पर बैठ
कौन तुम करते योग महान् ।

द्वितीय सर्ग

श्रावण-सन्ध्या का सूर्य हो रहा उधर अस्त
झंकार उठ रही एक अनेकानेक बिजलियों के स्वर से
पूरब दिशि में
घन के समुद्र पर सोया है सम्पूर्ण गगन
धरती की अभिलाषा वर्षा से भीग रही
प्रस्तर-निर्मित शुभ्रातिशुभ्र प्रासाद-द्वार पर
सजल यूथिका-लता लहलहा रही सुरभि से हो प्रमत्त,

सम्मुख ही किंचित दूर आम्र की डाली पर
कूकती हुई कोयल से भी कुछ निकट पपीहा बोल रहा
दक्षिण दिशि में गधर्व देश का एक वृद्धतम कलाकार
वीणा के केवल एक तार पर
मेघो की आत्मा का करता है आवाहन त्रिण-त्रिण-त्रिण ।
नयनो के दो आकाश प्यास को बुझा रहे
प्राणों के हर्षोच्छ्वास छू रहे सृष्टि-वेदना की छाया
जिसकी माया मे मानव का सम्पूर्ण सत्य
हो जाता है चिन्ता-विमुक्त ।

इतने मे विद्युत गिरी एक, भीषण कोलाहल हुआ,
धरा भी काँप उठी
वह कलाकार अति तुमुल घोप से हुआ स्तब्ध
वीणा का झंकृत तार टूट कर बिखर गया
विदेह

जिसको विदेह ने देख लिया नयनो मे एक हँसी लेकर
वह वृद्ध सो गया वीणा पर उस क्षण में ही ।

सहसा विदेह ने दो तारो को हिला दिया
उसके पहले स्वर से जीवन को मिला दिया
वह उठा गीत को छूता-सा
सगीत मिल गया सभी सुरो की सरिता मे
घनघोर वृष्टि-वन से उडती-सी
एक रागिनी-विहगी साँसो मे आई

वह गीतकार मध्यम अलाप से खोल रहा अन्तरा-द्वार
साधना-कक्ष से निकल रही आलोक-किरण
आत्मोदय की तन्मयता का उत्सर्ग जहाँ कर रहा प्राप्त
केन्द्रित आत्मा की चरम कला
जो केवल उज्वल प्रभा-सुरभि
जिसमें शोभित सम्पूर्ण सत्य
आनन्द स्वय साकार जहाँ ।
इससे भी ऊपर बहुत दूर-आँखो की पाँखें
थक कर जहाँ न उड पाती
उस सूक्ष्म मुक्ति के पथी है मानव विदेह
जिनके जीवन का प्रतिपल ही साधना-स्नात
प्रत्येक साँस ही योगपूर्ण
जो स्वय विभा-सगीत-सिन्धु विभ्राट शान्त ।

ज्वर-ग्रसित जनक-पत्नी कराहती शय्या पर अन्त पुर में
काँपती अकेली दीप-शिखा चचल समीर के झोके से

निशि-गंधा की मोहक सुगन्ध-बाँसुरी बज रही मन्द-मन्द
बज उठते है घन के मृदग द्रिम-द्रिम-द्रिम-द्रिम
रानी के सम्मुख बैठा है अति वृद्ध वैद्य
नाड़ी को देख रहा रह-रह
कफ़ और पित्त का है प्रकोप
घबराती है रोगिनी सुनयना मन ही मन ज्वर-ताप लिए
तन-विविध अग रुज-स्वेद-पूर्ण
जल रहे नयन,
मस्तक मे होती है पीड़ा
नासिका-छिद्र से निकल रही उष्णता-उर्मि
वस्त्रो को देती कभी हटा
दासी पानी मे औषधि मिला उसे देती
गिर गया अचानक रजत-पात्र।
सेविका पुनः देती औषधि
वातायन के सम्मुख विद्युत करती क्रीड़ा !

बाहर विदेह कुछ देख रहे
श्रावण का जल-सगीत झर रहा धरती पर
श्यामलता का साम्राज्य व्याप्त है सभी ओर
भीगती हुई उस अन्धकार मे एक कृषक-पत्नी आई
बोली—"राजन् ! मेरे पति ज्वर से काँप रहे
बढ गया रोग धीरे-धीरे
साहस लेकर मैं आई हूँ इस जगह स्वय
क्या राज-वैद्य मेरे गृह तक चल सकते है ?"
इतना ही कह वह काँप उठी

भीगी निर्धनता सिहर गई तद्रिल विदेह की छाया मे
तन्मयता का विश्रान्त स्वप्न हो गया भग
मानवता का दयनीय प्रश्न माँगने लगा दारुण उत्तर !

वह कलाकार जो बजा रहा था बीन मेघ की माया में
धीरे-धीरे सो गया स्वप्न की छाया मे !
देखा विदेह ने रानी को भीतर जाकर
वह सोई है,
पर कभी-कभी कुछ बोल रही ज्वर की तेजी से रुक-रुक कर
वह वृद्ध वैद्य हो गया खडा
आज्ञा पाकर बाहर निकला
औ' इसी बीच सारथी गया रथ को लाने ज्योही प्रहरी ने
कहा नृपति-आदेश उसे ।

युवती के सम्मुख राज्य-सेविका आई नूतन वस्त्र लिये
कम्पित शरीर को ढँक कर भी वह काँप रही
मन की आकुलता पति की शय्या के समीप ही बैठी है
विह्वलता की दोनो बाहे चिन्ता के चरणो को छूती
आँखो से बिजली निकल रही है बार-बार
प्रज्वलित वक्ष मे कोलाहल, प्राणो के कम्पन मे हलचल
कितनी अवाक कातर नारी
जिसके सम्मुख जीवन-दुख का भीषण ज्वालामुख फूट रहा
विकराल मृत्यु की छाया मे वह विकल खडी
रे कही साँस हो जाय शेष, तो क्या होगा !
जीवन भर अबला की आहे धर्माग्नि कुण्ड को देखेगी
पीडा के कारागृह मे वह वन्दिनि होगी

अथवा सपने की स्वर्ण चिता पर सो जायेगी प्रेममयी !

तरुणी ने देखा
वर्षा मे ही विद्युत गति से रथ आया
उसके चिन्तित प्राणों का जीवन मुसकाया
अन्तर में जैसे ज्वार उठ गया एक वार
देखा विदेह ने उसके दृग को बार-बार
आँसू के हर्षित चार बून्द झर कर कपोल पर ढुलक पडे
वह राज वैद्य के संग चढी रथ पर सहसा ।

जल-मग्न राज-पथ पर निर्भय
सारथी अश्व को लगा बढाने मन्द-मन्द
काले घुँघराले मेघ गरजते है रह-रह
उठ रहे समीरण के झोके
तमयुक्त दिशाओं मे बिजली विचरण करती !

जब तक न वैद्य आगया यहाँ
तब तक विदेह मानव के प्रश्नो की लहरो पर खड़े रहे
सोचते रहे
जग-विषम समस्याओ का क्या है समाधान
नृप की केन्द्रित सम्पत्ति-शक्ति—
जनगण-समता,अनुरक्ति-हीन
या श्रद्धा मे डूबा सत्योज्वल भाव-सूर्य ?
मानव-जीवन भिन्नतापूर्ण भू पर निर्मित
—यह न्याय या कि अन्याय ?
हाय, इसका उपाय असहाय दीनता का विनाश
दीनता मनुजता का लज्जित उपहास—

ह्रास, मानव के सारे कर्मों का ।
झंझापूरित घनघोर वृष्टि में ग्राम-वधू
भीगती हुई दुख में आई मेरे सम्मुख ।
केवल इसलिये कि कुशल चिकित्सक राजभवन को ही सुलभ्य
साधारण जन तो कठिन रोग से मुक्त नही
यह रात आज कितनी भीषण भयपूर्ण तिमिर से आच्छादित
जैसे दरिद्रता का अन्तर—विस्फोट हो रहा अम्बर मे
करुणा-ताण्डव-सम तडित-चरण सघर्ष-स्नात ।
क्या वह दिन भी आयेगा आकुल धरती पर
जिस दिन मानव का सत्य बिखर जायेगा कोने-कोने तक
हरि-प्रिया भाग्य-लक्ष्मी बाँटेगी साम्य-सुधा
मनु-सूर्य समस्त मनुजता पर देगा वैभव का सम-प्रकाश
बन्धन, विभेद के सभी स्वप्न जल जायेगे
है मनुज अभी धर्मानुरक्त
इसलिए नृपति की भक्ति अभी जीवित भू पर
लेकिन जिस दिन चेतना सत्य की जागेगी
मानव अपना जिस दिन अस्तित्व सँभालेगा
उस दिन कोई भी व्यक्ति नही भूपति होगा
मानवता का सम्राट मुक्ति देगा सब को ।

मै हूँ मनुष्य
यह राजमहल सचमुच सबका
वैभव के गिरि भी मेरे नही सभी के है
धरती सबकी, नभ भी सबका
ये चाँद, सितारे, मेघ, सूर्य मानव के है, मानव के है ।

इनके अधिकारी व्यक्ति नही जनगण समस्त
मनु ने मानव को बना दिया,
पर मानव अब तक बना नही, बन रहा पूर्णता के गृह में
जिस दिन मानव-ससार मनुजता के गुण से शोभित होगा
उस दिन धरती सम्पूर्ण ज्ञान से चमक उठेगी
यहाँ, वहाँ, सर्वत्र किन्तु,
मानव के मन का तिमिर मुक्त होगा कि नही
तृष्णा का स्वार्थ जलेगा क्या जीवन-वन म
मनु की समस्त किरणें क्या होगी भू पर एकाकार नही ?
यह निखिल प्रकृति अनुकूल या कि प्रतिकूल अखड मनुजता के?

यह अर्ध रात
वर्षा ऐसी जैसे सवेग झरता अम्बर से जल-प्रपात
संगीत भयंकर गूँज रहा झंझानिल मे
देखा विदेह ने रथ को रुकते मन्द मन्द
धीरे धीरे आ रहा वैद्य
गभीर भाव मुखमंडल पर रो रहा भृकुटि के आस पास
पूछा विदेह ने कुशल-वृत्त,
वह मौन रहा
रुक कर बोला—हो गई मृत्यु उस रोगी की
यदि सध्या तक मै वहाँ पहुँच पाता तो निश्चय वच जाता
हिचकियाँ आ रही थी तव मै पहुँचा गृह पर
पड़ सका रसायन का प्रभाव उस समय नही
मै क्या करता ?
दर्शन का एक निपुण ज्ञाता मर गया नृपति !
गत वर्ष गया था काशी मे शास्त्रार्थ हेतु

पाया था गौरव वहा ज्ञानियों के समूह में प्रथम वार
उसकी विदुषी पत्नी काशी की विजय-कली है हे राजन् !
आभा है उसका नाम—
निरीश्वरवादी है उसका विचार
विद्वत्ता चमकती है उसके प्रिय नेत्रो में
वह चीख रही है मृत पति के सम्मुख तब से
केवल सत्रह वर्षो की कोमल युवती है वह गर्भवती
उसके जीवन पर वज्र गिर गया है नरेश !
ईश्वर का निर्मम न्याय हाय, वह सह न सकेगी जीवन मे !

चुप है विदेह के प्राणो का मनुष्यत्व विकल
सोचता अकेला वार वार
मानव-समाज की रचना से ईश्वर दोषी हो रहे यहाँ
निर्झर की गति पाषाण कहाँ तक रोकेगा
पुरुषाधिकार की सृष्टि हो रही शक्तिपूर्ण
नारी की मूक वेदना करती गरल-पान ।

चढ गये जनक रथ पर द्रुत ही
वह वैद्यराज जा रहा सुनयना के समीप धीरे-धीरे
मेघो के गर्जन से गर्जित है दिगदिगन्त
सारथी अश्व को रोक रहा ऋषि याज्ञवल्क्य आश्रम-पथ पर।

आभा के गृह के सम्मुख रथ रुक गया पुन:
देखा दोनो ने श्रीविहीन मूर्च्छित विधवा को एक बार
शव के सुवक्ष पर दोनो वाँहे फैली है
विखरे है काले खुले वाल

मिट्टी के दो दीपक जलते हैं मन्द-मन्द
वर्षा का हाहाकार हो रहा क्षीण शांत !

बन्धनमय तम-जीवन के कारागृह मे बंदित है नारी
कोमल छाती पर काल-वज्र है गिरा हुआ
वह काल कौन ?
मानव की सीमित कटु प्रबुद्धि का व्यंग्य सृजन
जिसकी छाया मे जन गण का दुर्बल अस्तित्व कॉपता है
आदर्श सत्य की शोभा पर फूँकता सदा आदेश-चिता
अध्यात्म स्वयं बन जाता है उपहास अहंकारी बल से
औ' ज्ञान झुलस जाता है, जब
जलने लगता है हृदय सत्य की ज्वाला से ।

आभा ने रोती आँखों से देखा मुडकर करुणा मे अग्नि-समुद्र लिये
सम्पूर्ण मूक वेदना कह रही मन ही मन--
मिथ्या है मानव-जीवन का बन्धन-विधान
मिथ्या है आदर्शो की स्वार्थ भरी रचना
निर्धनता का स्रष्टा मानव है धरती का
सम्पूर्ण पाप का भागी है केवल मनुष्य
यह प्रकृति शुद्ध है—परम शुद्ध
पर निखिल सृष्टि-सम्राट जिसे कहते ईश्वर
कल्पना एक केवल स्वार्थो की भाषा की
भययुक्त अलक्षित वह समुद्र ही तो केवल
जिसकी लहरो पर पुण्य कर रहा पाप और कुछ नही यहाँ
ईश्वर का निर्माता केवल है चतुर मनुज
जो आडम्बर का जाल यहाँ फैलाता है

कहता है ज्ञान-शिखर पर चढ़——
है भाग्य मनुज के कर्मों का जीवन-प्रकाश
जिसका निर्माता अलख, अगोचर, सीमाहीन, अमर ईश्वर !

जलदाकुल व्योम-प्रभात अरुण के रथ पर ज्योति लिये आता
ऋषि याज्ञवल्क्य के साथ कर रहे जनक बात
आदर्श और प्रिय न्याय कर रहे ज्वलित तर्क
आभा मन ही मन सुनती है अन्तर पुकार——
कोई कहता है मनु-विधान आदर्शपूर्ण है जीवन का
कोई कहता है मनु से मानव की विशाल परिभाषा है
जो बन-बन कर भी सशोधित होती है समय प्रवाहो मे
मानव क्या एक सरोवर है जो रखता सीमित ज्ञान नीर ?
मानव अनन्त अभिलाषाओ का सूक्ष्म सत्य
मानव है ज्ञान समुद्र स्वय
जिसमे असख्य लहरे उठती है नित नवीन
नूतन विचार, मौलिक न्यायो पर आधारित मानव जीवन
मानव है वह जो नही रुके
मानव है वह जो नही झुके गति हीन बन्धनो के आगे !

पौ के फटते ही आभा ने निज मृत पति के मुख को देखा
उसके सुहाग की लाली को चाटने लगा मनुष्यत्व सर्प
फैलने लगा दृग के सम्मुख गरलान्धकार
अन्तर मूर्च्छित हो गया प्राण से हीन रूप को देख-देख
आत्मा इ गित करती शरीर से दूर
सत्य की एक किरण हँस रही जहाँ
जिसके प्रकाश मे ध्यान मग्न है प्रिय विदेह !

धीरे धीरे लग रही भीड़
शत-शत लोचन आ रहे स्नेह श्रद्धा लेकर
औ' इसी बीच अन्तर को, चिन्ता उगल रही है एक स्वप्न—
सुधि के मरघट पर जलती है एकान्त चिता
पुत्रियाँ मृत्यु की नाच रही हैं सभी ओर
उग रहा प्रलय का तिमिर-सूर्य
वज रहे धर्म के वाद्यवृन्द
आदेशासन पर वैठा है प्राचीन पुरुष
जो कहता अबला से—प्रस्तुत है अग्नि-सेज
सोजा, सोजा मनु का आदर्श वुलाता है !"

निर्वल नारी जिसके शरीर पर सामाजिक
चिनगारी वरस रही कव से
शय्या पर रखती प्रथम चरण
आलिंगन करना चाह रहा आदर्श तुरत
पर कौन मौन कह रहा—देवि !
तुम अपने प्राणों को देखो
उस पार उदर के उदयाचल पर
जहाँ हृदय का भोर हो रहा है चुपके
मनु का नवीन युग-पुत्र जन्म का पहन रहा आलोक-वस्त्र
वह शीघ्र करेगा किरण-दान
गायेगा निश्चय मुक्ति-गान
विश्वास करो हे देवि !
नम्र मानवता के निर्मित होंगे अनुपम विधान
माँ ! निज पुत्रों के लिये रहो जीवित जग मे
उन्मुक्त मनुजता के प्रभात से फूटेगा सम-भाग्य-कमल।

टूटेगा जीवन का बन्धन
फैलेगा भू पर जय-वितान।

बीते आभा के तीन वर्ष
अद्वैतवादिनी परमद्वैत-पथ से चिन्तन के पृष्ठ लिये
शका की आँधी मे निकली
मातृत्व-रूप को कर शोभित शिशु के शशि से
जल रही बुद्धि की ज्वाला विप्लव के गृह मे
झर रही एक निर्झरिणी भावो के गिरि से अन्तरतर पर
कर रहा न्याय विस्फोट,
चोट लग रही सत्य के जलते प्रश्नो के पग मे
पथ मे कटक-रोडे कितने
मानव-समाज के रगमच पर
अन्ध तिमिर की एक यवनिका लटक रही
जिसके पीछे अध्यात्म एक उपहास-मात्र
परमात्म एक सुनसान-सिद्धि
जो सृष्टि कर रही स्वार्थ भरी प्रभुता-सत्ता-साम्राज्य-विजय
हो रही मनुजता छिन्न-भिन्न वर्णो की कलुपित छाया मे।
उन पच तत्व के मिश्रण से मानव का ओझल रूप बना
इस निखिल प्रकृति-सघर्पो से मन-प्राण-ज्ञान की हुई प्रगति
इस प्रगति और जीवन-विकास का क्रम भी कभी रुकेगा क्या
वर्णो का यह सगठन कर्म के लिये हुआ
जिसको श्रद्धा ने विपम परिस्थिति की मिट्टी पर मान लिया
पर वर्ण प्रतिध्वनि जन्मजात
ध्वनि-वद्ध ? हाय, यह न्याय या कि अन्याय ?

भला यह श्रेष्ठ और लघु की कल्पना
मनुजता का क्या व्यग्य नही ?
आध्यात्मिक धरती का है यह कुत्सित प्रयोग
—पूछती जनक से प्रिय आभा, भौतिक विचारधारिणि नारी

उत्तर मिलता—
आत्मा केवल अनुभूति ज्ञान का केन्द्रस्थल
जो है अदृश्य औ' स्पर्श हीन
मानव की अन्तर्मुखी चेतना ही छू सकती जिसे यहाँ
जब जीवन की योगानुरक्त साँसे
हो जातीं किरणमयी उन्मुक्त सूक्ष्म
तब ज्योति-ब्रह्म से मिलती है
प्रज्वलित आत्म की सत्य-शिखा
उत्तुग हिमालय की मिट्टी आत्मानुरक्त
है उषा काल से ही, युग से
मै जान रहा, मै मान रहा
यह कठिन योग-साधना आत्म-विज्ञान-सत्य
भौतिकता के लोचन मे कैसे हो सकता परमात्म-प्राप्य ?
इसलिए योग है व्यक्तिपूर्ण
पर है समष्टि-हित सत्कर्मो के मर्म लिये ।

हे देवि ! धरा के लिये किन्तु भौतिकता तो अनिवार्य सत्य,
मानव-ममता का न्याय-घोष
कर्मानुरक्त सभ्यता-शक्ति
पर धर्म, नही मिथ्या, कर्मो का मर्म-सिन्धु
यह एक शब्द भू की विशालता का कलरव

मानव-विचार-संचय केवल
जीवन-ध्वनि की प्रति-ध्वनि सीमित
आयेगा देवि ! कभी ऐसा युग धरती पर
पर्वत, सरिता, सागर को लाघेगे मनुष्य के सम विचार
होगा सर्वोदय का प्रभात
फूटेगा समता-कमल मनुजता-गध पूर्ण
पर बिना आत्म-अन्वेषण के होगा क्या मानव का विकास ?
बाहरी सभ्यता ढूंढ सकेगी ज्योति-शान्ति ?
मानव, शरीर की भूख-प्यास से नही पूर्ण
अन्तर-प्रकाश तो मानव का व्यक्तित्व दिव्य !

देखा विदेह ने इतने में दो मानव को
सध्या की धूमिल छाया में
दोनों के स्तर थे भिन्न-भिन्न
वस्त्रालकृत था एक
औ' दूसरा भृत्य-सा मन्द वेश
बोले विदेह अबला आभा से हो गँभीर—
देखो आर्ये ! भौतिकता का शृङ्गार जहाँ पर शोभित है
उसके जीवन की निर्मलता है जली हुई
पर वह मनुष्य जो दीन-वस्त्र से आवृत्त है
उसके प्राणो का तेज सत्य से है पवित्र !
आभा क्षण भर तो मौन रही
फिर बोल उठी—कैसे विदेह ?
मैं आत्म दृष्टि से देख रहा—वे बोल उठे !

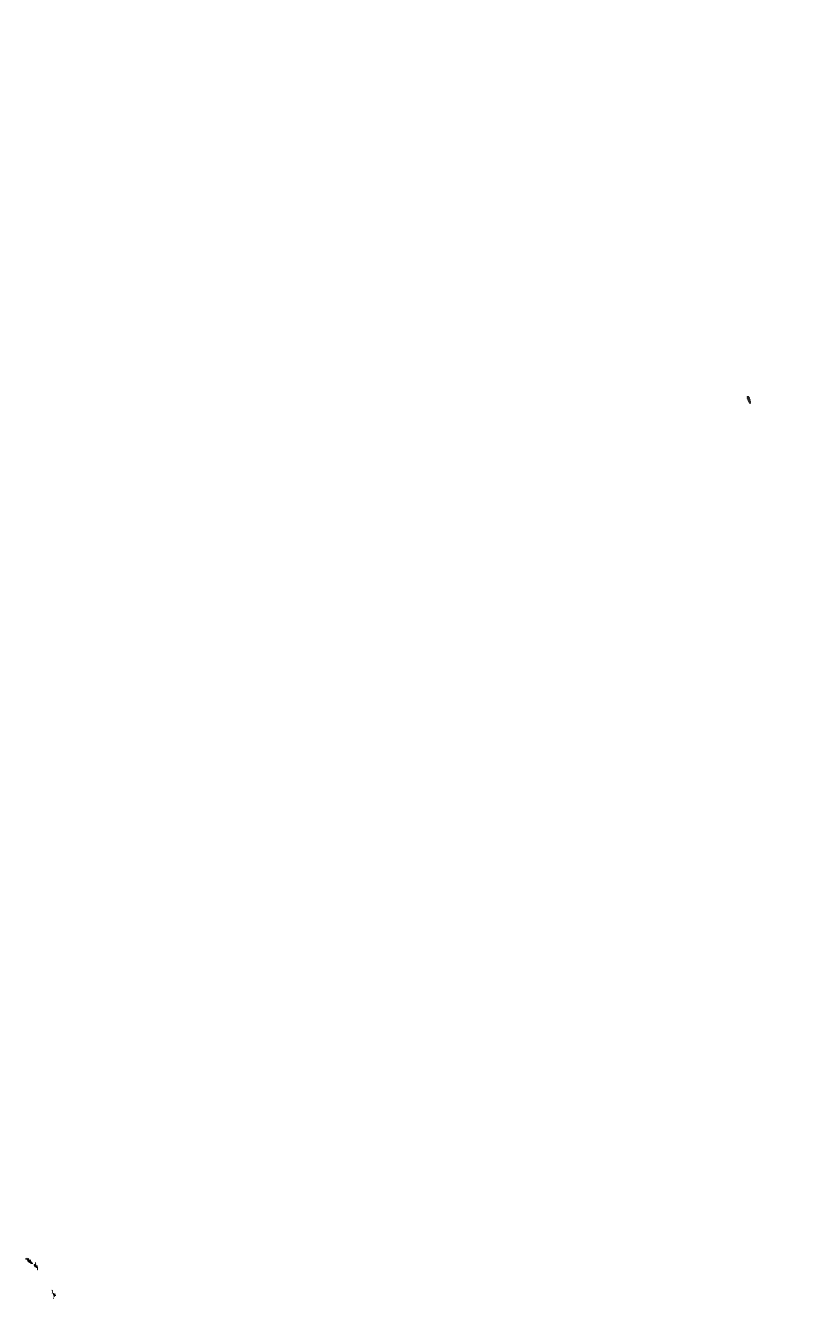
उस दिन से आभा पूछ सकी कुछ नही पुन

प्रश्नों के उत्तर स्वयं लगी देने कठोरता के पथ पर
पर एक प्रश्न वह जलता सा मंगल बन्धन विच्छेद पूर्ण—
कहता है सबसे—करो न्याय मानवता का !
जिसको सुन कर देखते जनक ऋषि याज्ञवल्क्य की आँखों का
जिनमें आँसू का एक बून्द भी नहीं दिखाई पड़ता है !





तृतीय सर्ग



हेमन्त-यामिनी-श्रान्त चन्द्र हो रहा अस्त धीरे-धीरे
अति मन्द मन्द स्वच्छन्द पवन को देख रहा है अन्धकार
उदयाचल पर ऊषा की वाणी विखर रही आनन्दमयी
उड़ती कुहेलिका-घटा प्रात के पुण्य लिए
मर्मरित आम्र वन मे खग कुल चहचहा रहा
भैरवी विचरती राज भवन के आस पास
वेदान्त सत्य सगीत लिए
उपनिषद मंत्र शत शत गुजित
तंद्रिल जन गण मन के स्वर पर
ऋषियों के वंदन ब्रह्मगान आश्रम समीप सर्वत्र व्याप्त !

अनहद अशेष सगीत सुधा रस को पीते—
आ रहे जनक एकाकी उत्तर की दिशि से
भ्रमणोपरान्त चिंतक-गति से
आ रही ग्राम बालाएँ उनके संग संग
ले कटे नार के बोझ स्वस्थ सुन्दर सिर पर
उज्ज्वल कुहेलिका के प्राणो मे अमिय अरुणिमा रही खेल ।

रुक गए जनक,
देखते एक मिट्टी का घर जो स्वयं एक चित्रालय है
उद्यानों के सम्मुख प्रस्तर की तीन मृगी चर रही दूब

श्रौ' एक व्याघ्र करुणा का पारावार लिये
निज नयनो मे देखता उन्हे
कहते विदेह बालाश्रो से—"देखो मृदुले !
मानव की विकसित कला साम्य का इगित करती विनय पूर्ण
समता मनुष्यता की शोभा है धरती पर !"
सबसे छोटी बालिका बोझ को पटक देखने गई उसे
देखती रही चुपचाप दृगो मे तन्मयता की ज्योति लिये !

श्राई वापस।
मिथिलापति ने उसके बोझे को उठा दिया
चलते चलते वह बोल उठी "हे नृपति श्रेष्ठ !
सुनती हूँ कल सैकडो दार्शनिक श्रायेगे पाञ्चाल श्रौर कुरु देशो से
दर्शन-चर्चा का महा यज्ञ होगा राजन्
मै भी श्राऊँगी निज माता के सग वहाँ
मेरी माता भी तो त्रिवेदिनी है नरेश !"
श्रति प्रेम भरे स्वर से विदेह ने कहा उसे—
"श्राना, श्रवश्य श्राना बाले ?
सुनते ही यह सब उछल पडी
श्रादेश श्रौर श्राग्रह के प्रेमिल सगम पर।

श्रा रहे जनक श्रपने पथ पर
जा रही बालिका बोझ लिये
पगदण्डी पर श्राशाश्रो मे कर्त्तव्य लिये
मिट रही कुहा की उजियाली
नभ की नीलिमा प्रशान्त सिन्धु मे खिला ज्योति-शतदल प्रफुल्ल
खग भ्रमर कर्म के सुरभि पान के लिये उडे परिवार सग

पहुँचे विदेह निज अतिथि कुटी में हो प्रसन्न ।
ऋषि याज्ञवल्क्य करते अभ्यागत से बातें
उनकी दोनों पत्नियाँ सुनयना रानी के सँग विचर रही
निज सेवा के हित आग्रह करती है सबसे
मैत्रेयी सबसे अधिक बोलती है खुल कर
निज आत्म सिद्धि की भाषा से
विदुषी कात्यायनि भाव भरी श्रद्धा से देख रही सबको
औ' राज पुरोहित शतानन्द करते सबका इच्छित प्रबन्ध
ज्ञानी अमात्य के सग सग ।

आए है अश्वल, आर्तभाग, आरुणि, उद्दालक, चाक्रायन—
उषस्तका, कहोल, महा गार्गी, शाकल्य, भुज्यु लाह्यायनि भी
दार्शनिकता के अध्यात्म सूर्य झाँकते सभी के नेत्रों से
पाण्डित्य चमकता है सबके मुखमडल पर
साधना-तिलक सबके ललाट पर दीप्ति लिये अति ज्योतिर्मय
संयम के मानव विद्या तप से औ' विनम्रता से बोझिल
कितने प्रशान्त
भगवती भारती बजा रही है ज्ञान बीन अन्तरतर मे
कितने प्रसन्न हो रहे जनक सबके सम्मुख यह कौन कहे
कितना विशाल व्यक्तित्व सिन्धु राजेन्द्र जनक के जीवन का—
ज्योतिर्प्रवाह पर कौन बहे !

कहते आरुणि चाक्रायन से—
हे तात ! जनक को देखो तो
भिक्षुक है या सम्राट् या कि है संन्यासी
मृग चर्मावृत ज्ञानी मानव परमात्म शक्ति मे सदा लीन

जिनके सयम की सुरभि फैलती सभी ओर
जो अहकार से दूर, प्रेम के प्राणो से भी अधिक निकट
वासना और इच्छा की लिये समाधि
कर्म से पूर्ण मनुजता के भू पर
ऊपर-ऊपर रहने वाला मानव-शतदल कितना सुरभित
नयनो की प्रेमिल दृष्टि सृष्टि से दूर
आत्म की किरण वृष्टि मे ध्यानाश्रित
इस राज भवन मे तब तो रहते याज्ञवल्क्य
रहती उनकी पत्नी मैत्रेयी औ' कात्यायनि भी युग से
कल होगी जो दर्शन-चिन्तन की सभा
नही कुछ पता कि क्या उद्देश्य चरम
क्या विजय पराजय का अन्वेषण ही विदेह का नग्न लक्ष्य ?
बोले चाक्रायन—समय बतायेगा कल ही
उत्सुकता की निर्मलता को क्यो हम शका से करे विकल
मिथिला मे हम तीर्थाटन के हित आये है
विद्या की यह निर्मला भूमि तो है नमस्य ।

निश्चित वेला मे आमन्त्रित दार्शनिकवृन्द
आये सहर्ष मिथिला के सभा-भवन मे अनुशास्ति पथ से धीरे धीरे
निर्देशित आसन पर सबके सब बैठ गये
तब तक सिहासन के सम्मुख विनयानुकूल नृप खडे रहे
नेत्रो मे सम सम्मान लिये ।

भारती पुत्र को नीति पुत्र ने किया स्वय करबद्ध नमन
पुष्पो की वर्षा हुई अतिथि के मस्तक पर
फिर शखध्वनि से गूंज उठा प्रासाद भव्य

सवका परिचय दे रहे सचिव
सुनते सहस्त्र दर्शक सशान्ति उत्सुकता के नवद्वार खोल
सवसे पहले वन्दना हुई वेदानुकूल वाणी की झंकृत वीणा पर
औ' पुन. एक स्वागत संगीत हुआ नूतन
फिर पच शंख से हुआ एक सम्मिलित घोप !

ध्वनि की समाप्ति के वाद जनक ने कहा नम्रता के स्वर से—
हे अतिथि, सभासद, प्रजावृन्द !
मै स्वागत करता हूँ सवका श्रद्धा के कुसुमित भावो से
यह आर्यावर्त महान साधना औ' चरित्र का महादेश है—
युग युग से
साधना ज्ञान से मानव ने पाई है अति सूक्ष्मानुभूति
अन्तर-नेत्रो से देख रहा हूँ साधक को द्विरूप पूर्ण
तप का चरित्र माँगता
वाह्य अन्तर विकास आलोकित एकाकार लिए
तन मन समस्त चेतना मनुज की हो अभिन्न
इसलिये जानना चाह रहा हूँ आज कौन है ब्रह्मनिष्ठ !
इस राज सभा के वाहर वे गौएँ सहस्र है खड़ी वहाँ
सवके सीगो में स्वर्ण पत्र है जड़े हुये
हे आमन्त्रित दार्शनिक सिद्ध ब्राह्मण समस्त !
जो ब्रह्मनिष्ठ है वे कनकालकृत गौएँ ले जायँ साथ !

छा गई स्तब्धता सभी ओर
घोषणा ज्योति के निकट सभी सकुचित हो गये मन ही मन
कुछ ने साहस का दीप जलाना चाहा पर जल सका नही
कुछ ने विद्या की सरिता पर खेना चाहा
नौका प्रलोभ की एकवार

पर अभिलाषा पतवार नही छू सकी तुरत
सब मौन रहे अपने अपने आसन पर ही
दर्शक की आँखे ढूँढ रही प्रत्येक मुखाकृति की शोभा
पर सभी ओर सब मौन, कही भी नही गूँजती है पुकार
विभ्राट जनक का प्रश्न चिन्ह है खडा सभी के मस्तक पर
कोई भी ब्राह्मण नही यहाँ पर ब्रह्मनिष्ठ ?
क्या सत्य श्रेष्ठता ध्वस्त हो गई मिथ्या शोभित साधन से ?
क्या द्विजालोक बुझ गया प्रपची जीवन मे ?
—उठ रहे मनुज के प्राणो मे सदिग्ध चिन्तना के विचार ।

इतने मे बोले याज्ञवल्क्य—हे सौम्य शिष्य प्रिय सामश्रवा !
ले जा सहस्र गौओ को अपने आश्रम में
हूँ ब्रह्मनिष्ठ मै ही केवल आर्यों की विस्तृत धरती पर
ब्राह्मण का जीवित एक सूर्य है अभी गगन मे ज्योतिपूर्ण !"

सुनते ही यह, अश्वल का क्रोध उभर आया
बोलने लगा—ओ याज्ञवल्क्य! क्या ब्रह्मनिष्ठ केवल तुम हो?
देना होगा इसका प्रमाण इस भरी सभा मे आज तुम्हे
प्रश्नो की वर्षा होगी इसी जगह तुम पर !"

बोले ऋषि याज्ञवल्क्य क्षण मे—
मानव के सभी गूढ प्रश्नो का उत्तर दूँगा हे अश्वल !
अध्ययन से केवल अन्धज्ञान ही होता है
अनुभूति मनुज को बहुत दूर ले जाती है
पर केवल इतने से ही मिलता नही धरा पर ब्रह्मज्ञान
जीवन की सचित आतम शक्ति की व्याख्या भी हो सकती है ?
हाँ, मर्म प्रकट कर सकता है मानव वैज्ञानिक वाणी से

आत्मा के दृष्टि-विहीन चित्र
अनुभव की आँखों से ही आ सकते बाहर
मानवता की क्रीडाओं का साहित्य चिरन्तन साक्षी है !

बोले अश्वल—कह सकते हो हे याज्ञवल्क्य !
है दिवा-रात्रि से व्याप्त निखिल जग का कण-कण
सम्पूर्ण सृष्टि तम औ' प्रकाश के है अधीन
तब किस साधन से दिवस-रात-व्यापकता का
कर सकता है अतिक्रमण स्वयं यजमान यहाँ ?
उत्तर मे बोले याज्ञवल्क्य—
केवल अध्वर्यु ऋत्विक से ही तो, नही चक्षु रवि के द्वारा।
अध्वर्यु यज्ञ का चक्षु स्वयं
औ' इसी लिये है चक्षु स्वय आदित्य रूप
अध्वर्यु मुक्ति है, यही मुक्ति अति मुक्ति स्वयं !

इस तरह अनेकानेक प्रश्न के उत्तर मिलते रहे उन्हे
तब आर्तभाग ने कहा तुरत—
जिस समय यहाँ मृत पुरुषों की
वाणी हो जाती लीन अग्नि मे,
प्राण वायु मे, चक्षु अरुण मे, मन मयङ्क मे, श्रोत्र दिशा मे
तन भूतल मे
औ'र हृदय-आकाश भूत आकाश तत्व मे
औषधियो मे रोम, वनस्पतियो मे होते केश लीन
हो जाते जल में स्थापित जब ये रक्त, वीर्य
हे याज्ञवल्क्य ! तब पुरुष कहाँ पर रहता है ?"

हे आर्तभाग ! जन गण समक्ष इसका उत्तर देना
अनुचित सा लगता है
एकान्त कक्ष में आओ लो इसका उत्तर !

नृप की अनुमति पाकर दोनो ही अलग हुए
सम्पूर्ण ज्ञान पर कर्म हो गया खडा स्वय
सम्मुख छाया पर पाप पुण्य की दो नदियाँ मिलकर बोली–
हे कर्म ! मर्म की रेखा ही तुम मत खीचो
तुम खिलो स्वय शतदल बनकर इस सगम पर
ज्ञानान्त लिये ज्ञानोदय मे !

चाहा विदेह ने उत्तर का आलोक खिले जन के नभ मे
पर नही मिली कोई पुकार मन के मुख से !
आश्चर्य चकित हो गये भुज्यु लाह्यायनि जब
उत्तर पाकर निज प्रश्नो के
तब चाक्रायन ने कहा—दृगो में ज्योति लिये—
"अपरोक्ष ब्रह्म-साक्षात और सर्वान्तर आत्मा से तुलनात्मक
व्याख्या मेरे प्रति दो हे प्रिय याज्ञवल्क्य !"
"यह तेरी आत्मा ही सर्वान्तर है उषस्त !"
"सर्वान्तर है वह कौन आर्य ?"
"वह तेरी आत्मा सर्वान्तर
जो प्राणो से करती है प्राण क्रिया प्रतिपल
करता अपान से सदा अपान क्रिया—
करता है व्यान उदान क्रियाएं जीवन मे हो व्यान उदानो से
वह सर्वान्तर, आत्मा तेरी सर्वान्तर है !
पर देख नही सकते सुदृष्टि द्रष्टा को तुम

श्रुति श्रोता का तुम सुन भी कभी नही सकते
मति के मन्ता का मनन नही कर सकते हो
विज्ञातिपूर्ण विज्ञाता क्या है तुम्हे ज्ञात ?
आत्मा ही तो सर्वान्तर है, इससे न भिन्न है आर्त यहाँ !

ऋषियो के शत प्रश्नोपरान्त विख्यात दार्शनिका गार्गी ने
दूसरी बार पूछा सगर्व—
"हे याज्ञवल्क्य !
जो है द्युलोक से ऊपर, नीचे पृथ्वी से
जो है द्युलोक धरती के मध्य भाग मे ही
जो स्वयं धरा औ' है द्युलोक
कहते है जिन्हे भविष्य, भूत औ वर्तमान—
ये किसमे ओतप्रोत भला ?"
"ये सब है ओतप्रोत व्योम मे ही गार्गी !"
"तब किसमे ओतप्रोत गगन ?"—फिर वह बोली
"अक्षर मे ही हे गार्गि ! सुनो—
"अक्षर न स्थूल, अक्षर न सूक्ष्म"
यह गुरु, लघु, लाल, द्रव्य, छाया, तम, वायु औ' आकाश नही
मन, प्राण, तेज, वाणी, लोचन, रस, गन्ध न यह
बाहर भीतर कुछ भी न माप है अक्षर मे
खाता न स्वय वह कुछ, कोई भी उसे नही खा पाता है
अक्षर अनुशासन और प्रशासन मे रवि शशि—
धरती, द्युलोक आकर्पण मे केन्द्रित प्रतिपल
अक्षर अन्तर्गत ही निमेप
इसके अन्तर्गत ही मुहूर्त, दिन रात, मास, ऋतु सम्वत्सर
अक्षर अनादि औ' अन्त विभूपित परमेश्वर

है वही दान, है वही हान कर सका न जो अक्षर अनुभव
पा सका नही अनुभूतिपूर्ण विज्ञान ज्ञान का सिन्धु सत्य
जिसके अन्वेषण पथ मे खिलते अग्नि फूल
मिलते है तब साधना ज्वार
औ' तभी देह के पार, कामना हो जाती है जहाँ क्षार
मिलती प्रकाश की धार
जहाँ फिर आकर ज्योति समीर उडा ले जाता आत्मानन्दमुक्त
औ' तभी व्याप्त हो जाता उडता शून्य स्वय
बन कर अशेष सगीत सृष्टि स्वर को विमुक्त कर बन्धनसे !

सुनते ही यह हो गई मौन गर्वित गार्गी
सन्नाटा सा छा गया सभा मे एक बार
महिलाओ की उत्सुकता की किरणे उदास हो रही तनिक
विद्वद् मण्डल अब भी प्रशान्त, गम्भीर धैर्य से दीपोज्ज्वल
हो रहा लक्ष्य से स्वय प्रतीक्षा-गृह निर्मल

इतने मे ही
उठकर बोले शाकल्य—सभासद ! शेष प्रश्न मै करता हूँ
श्रोता के मन पर एक हिलोर उठी सहसा
वे बोल उठे—हे याज्ञवल्क्य !
धरती जिसका यज्ञस्थल है
जिसकी प्रज्योति मन, अग्निलोक
जो भी उसको सम्पूर्ण पूर्ण अध्यात्म कर्ममय-करण केन्द्र का
जान रहा है परमाश्रय
क्या नही वही ज्ञाता महान मानव प्रदीप्त ?

नेत्रो मे आभा लिये मिला उत्तर प्रशान्त—

प्रिय, निज अपूर्ण विद्या का मत अभिमान करो
वाणी वीणा के सग सर्वदा रहती है
फूलों से सज्जित डाली को देखा है तुमने मधुऋतु में ?
सौन्दर्य-सुरभि से झुक जाती है विनयपूर्ण
यदि नही झुकी
तो प्रकृति वायु की साँस छोडती है प्रमत्त
झकझोर दिया करती है पुष्पित डाली को !

शाकल्य ! सुनो, तुम सर्व प्रथम विद्या-विनम्रता ही सीखो
अन्यथा नही समझोगे तुम अध्यात्म और मानव-दर्शन
ज्ञानी है वह जो विजय करे जीवन पर भी
ज्ञानी है वह जो विजय करे निज मन पर भी
ज्ञानी है वह जो विजय करे निज तन पर भी
सम्पूर्ण ज्ञान के लिये सुनो शाकल्य वत्स !
करना होगा जीवन का अविरल यज्ञ यहाँ
पीना होगा उत्सर्ग सरित का शुभ्र नीर
करना होगा कल्याण कर्म इस धरती पर

सूरज को देखो !
केवल, वह केवल ज्योति पुज ही नही, प्रगति का रथ भी है !
इसलिये ज्ञान के लिये कर्म अनिवार्य यहाँ
पर कर्म मर्म के लिये नम्रता भी आवश्यक साधन है ?
तो सुनो प्रश्न का उत्तर भी—
जिस ओर तुम्हारा इगित है
मै उसे जानता भी तो हूँ
शारीर पुरुष जो है सम्मुख, है वही यही

देवता अमृत ही है उसका ।
इस तरह अनेकानेक प्रश्न के उत्तर मिलते रहे तुरत
बैठे सलज्ज शाकल्य अजय का तिमिर लिये
अस्ताचल पर दार्शनिक यज्ञ का रवि आया
बोला सबसे—मै ज्योति प्रश्न कुछ करूँ यहाँ ?

सब मौन, शान्त, कोलाहल हीन सभा मडप
केवल विदेह के अधरो पर मुस्कान एक
जैसे पूरब से चन्द्र उग रहा हो चुपके
औ' सध्या की कालिमा भूमि पर फैल रही हो मन्द मन्द
अम्बर से अगणित नयन झाँकते हो झिलमिल।

तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे भूपति विदेह !
कह रही विजय मेरी ले जाओ गौओ को
क्या ले जाऊँ मै धेनु वृन्द निज आश्रम मे ?
पर मेरा ब्राह्मण कहता है तुम गौओ को वितरण कर दो
गर्वोन्नत होकर नही, प्रेम सर्वोन्नत हो
ब्राह्मण है वह जो मुक्त रहे सचित धन से
कचन प्रलोभ के स्वर्ण कमल पर ब्रह्म कहाँ ?
हे अतिथिवृन्द ! मै ब्रह्मनिष्ठ तो हूँ लेकिन मेरा विदेह
सिंहासन पर भी बैठ किसी सन्यासी के सचित तप से है श्रेष्ठ स्वय
है ज्ञात व्यास औ' वाल्मीकि को यह रहस्य
निर्मलता मे रह कर साधन करना तो उतना कठिन नही
जितना कि विषमता और विरोधी तत्वो मे मिलकर करना साधना यहाँ
आकर्षण के गृह मे हो सकता कभी योग ?

सिंहासन पर हो सकती है साधना कभी ?
देखो विदेह को हे ज्ञानी !
इस परमहंस को देखो कर्मोन्नत भू पर
जो बाँध रहा आकाश साँस उच्छ्वासों से
इसकी विशालता का साक्षी हूँ मैं केवल
उन्मुक्त कर्म सम्राट् चाहता, हो विमुक्त मानव बन्धन
चाहता भूमि पर मानव हो सम सम्मानित
औ' सचमुच ही
मानव तो मन्दिर है विराट परमात्मा का
मानवता के उदयाचल पर ही परम सत्य का सूर्य मिला।
जो मनुज नही पहचान सका, वह उसे कहाँ तक जानेगा
जो स्वयं न निज को जान सका, वह ज्योति नही पहचानेगा
यह जीवन है इसलिये कि जग हो जाय ज्ञात
इस लिये ज्ञान से बढ़ कर वैभव नही यहाँ
पर बिना कर्म के ज्ञान अधूरा ही तो है !

हे अतिथि वृन्द !
मैं हूँ विदेह का प्राण-सखा
जग समझ रहा है राजगुरु
पर मैं हूँ प्राण-सखा नृप का
संस्मरण सुनाता हूँ मैं केवल एक यहाँ—

कौशिकी-तटी पर यज्ञोत्सव करते थे ऋषियों के समूह
आचार्य श्रेष्ठ था मैं ही उस दिन प्रथम वार
ज्योतिर्मय ॐ विराटोच्चारण से गुंजित था दिगदिगन्त
उठती थी हवन-विशाल-कुण्ड से अग्नि-शिखा

गो घृत मिश्रित नव ग्रूप धूम्र की शुचि सुगन्ध थी वहाँ व्याप्त
अश्वत्थ छाँह मे प्रखर अशुमाली-प्रकाश की छाया करती थी
भिलमिल
ग्रीष्मोष्णोज्ज्वल लू लपट लास से सिकता शोभित सरि का तट--
तप-तप कर ज्वाल उगलता था मध्याह्न-तेज की शक्ति लिये
सम्मुख उजडे-उजडे खेतो में अग्नि-नीर था बरस रहा
शिवमय विदेह की ध्यान मग्न आँखे अन्तर का सत्य लिये
श्मशान-समान निरखती थी जग के मग को
वैसी गर्मी मैने न कभी देखी भू पर
धीरे-धीरे रक्तिम दिनान्त से पूर्व हुआ यज्ञावसान
ऋषियो के दल हो गये खडे हवनोपरान्त
मै नृप के सम्मुख खडा हुआ था अर्घ्यपूर्ण
औ' इसी वीच थर-थर-थर-थर काँपती हुई--
श्री-हीन विटप-पल्लविनी-सी
अति घृणित कुष्ट पीडिता एक षोडशी अचानक आ पहुँची
उसकी मुख-छवि थी चमक रही पूर्णिमा सदृश
पर शेष अग प्रत्यग हाय वीभत्सपूर्ण
तन के तरु मे शत शत फोडे के फूल खिले थे पीव युक्त
अति सडे हुए शव के समान ही निकल रही थी जीर्ण गध
जर्जर रोगिनी जनक सम्मुख आई आशा के ज्वार लिये
बोली--विदेह ! मेरी शोभा को देखो तो
कितनी सुगन्ध है जीवन मे
आई हूँ लेने प्रेम-दान
करलो राजन तुम अधर पान !
संभव है कल ही मर जाऊँ

मिट्टी के नीचे गड़ जाऊँ
अन्तिम अभिलाषा लेकर आई हूँ नरेश !

देखा विदेह ने तरुणी को—तरुणी की भीषण ज्वाला को
तरुणी ने भी देखा अन्तर से उठती-सी उजियाली को
वह लिपट गई वक्षस्थल से नयनों मे कम्पित नीर लिये
विभ्राट जनक ने उसे गोद मे उठा लिया
ज्योतित-चुम्बन का पुष्प-गुच्छ कर दिया समर्पित प्राणों से
मां के समान उस प्रेम-प्रकृति के चरणों को छू लिया स्वय
ऋषिगण विस्मय से चौक उठे
मै भी चौका
आश्चर्य चकित हो गया आज !
हे श्रोतागण !
जितने ऋषि थे सब दूर हट गये थे उस क्षण
उस गलित कुष्ठ की गंध असह थी सबके हित
पीडिता-षोडशी चली गई सरिता-तट पर
इतने मे आँधी उठी एक
छा गया धूल का अँधकार
बिजलियाँ कौधने लगी तुरत
है याद उसी क्षण एक सिह भी गरज उठा
धीरे-धीरे हो गई शान्त यह निखिल प्रकृति
पूरब दिशि से चाँदनी फूटने लगी शुभ्र !"

निज आत्म-प्रशंसा की वेला, कर्णेन्द्रियसुप्त थी भूपति की
ज्ञानगृह द्वार खुला सहसा

निकले विदेह कर्माकुल हो
औ' सभा विसर्जन की विनम्र घोषणा हुई
इसके पहले नृप के द्वारा ही क्षमा याचना हुई—
और तब शान्तिपूर्ण धीरे-धीरे सब निकले मडप के बाहर
गूँजे वीणा पर सान्ध्य गीत द्रिम-द्रिम स्वर से सिंचित
मृदग के सग-सग

उस रजनी मे
उत्सुक गार्गी नृप के दर्शन के लिये गई
बोली—विदेह ! मानव क्या है ?
हँसते ही बोले जनक तुरत—
मानव है वह जो मनन करे जग का जीवन
जो शुद्ध करे निज मन को आत्मा के बल से
जो पिये सत्य की सुरभि, जिये निर्भय हो कर
जो रुके नही तम के पथ पर खाकर ठोकर
"इतना ही क्या ?" बोली गार्गी
इतने मे ही सब कुछ देवी !
मानव का मन जब आत्मा मे मिल जाता है
तब मानव अभिनव परम रूप हो जाता है
जिस तरह चेतना की पवित्रता महा ज्ञान बन जाती है !

हे प्रिय विदेह ! नारी क्या है ? गार्गी ने प्रश्न किया नूतन
मुस्कान पूर्ण उत्तर निकला—
नर को पवित्र जो करे वही नारी विशुद्ध
जीवन-यात्रा के दो पथी है नर-नारी
दोनो समानता के बन्धन में मुक्तोन्मुख है ज्योति लिये !

"नयनों मे जल क्यों है विदेह"—बोली गार्गी
करुणा मे ही मिलती है किरण प्रखर मन की
इसलिए दया-दिव्यता मनुज के कर्मो में
औ' क्षमा ज्ञान की वनिता-सी उज्ज्वला स्वय
जिसके नयनों मे नीर नही वह विश्व पीर को क्या जाने ?
हाँ पूर्ण ज्ञान के लोचन रोते नही कभी
पर मानव बन कर मानव के सँग रोना पड़ता है गार्गी !
पुत्री की प्रथम विदाई मे जो रो न पड़े
वह भी मनुष्य है क्या भू पर ?
निज पुत्र वधू के आने पर जिसका अन्तर पुलकित न हुआ
क्या वह भी मानव है भू का ?"

देखा विदेह ने गार्गी के निर्मल कपोल पर
वादल के दो विह्वल टुकड़े के समान
दो आँसू कण को झरते भी
देखा जीवन के मन को तनिक सिहरते भी
श्रद्धा के पथ पर तप को तनिक ठहरते भी !



निकले विदेह कर्माकुल हो
औ' सभा विसर्जन की विनम्र घोषणा हुई
इसके पहले नृप के द्वारा ही क्षमा याचना हुई---
और तब शान्तिपूर्ण धीरे-धीरे सब निकले मडप के बाहर
गूँजे वीणा पर सान्ध्य गीत द्रिम-द्रिम स्वर से सिंचित
मृदग के सग-सग

उस रजनी में
उत्सुक गार्गी नृप के दर्शन के लिये गई
बोली---विदेह ! मानव क्या है ?
हँसते ही बोले जनक तुरत---
मानव है वह जो मनन करे जग का जीवन
जो शुद्ध करे निज मन को आत्मा के बल से
जो पिये सत्य की सुरभि, जिये निर्भय हो कर
जो रुके नही तम के पथ पर खाकर ठोकर
"इतना ही क्या ?" बोली गार्गी
इतने मे ही सब कुछ देवी !
मानव का मन जब आत्मा में मिल जाता है
तब मानव अभिनव परम रूप हो जाता है
जिस तरह चेतना की पवित्रता महा ज्ञान बन जाती है !

हे प्रिय विदेह ! नारी क्या है ? गार्गी ने प्रश्न किया नूतन
मुस्कान पूर्ण उत्तर निकला---
नर को पवित्र जो करे वही नारी विशुद्ध
जीवन-यात्रा के दो पथी है नर-नारी
दोनो समानता के बन्धन में मुक्तोन्मुख है ज्योति लिये !

"नयनों मे जल क्यों है विदेह"—बोली गार्गी
करुणा मे ही मिलती है किरण प्रखर मन की
इसलिए दया-दिव्यता मनुज के कर्मों में
औ' क्षमा ज्ञान की वनिता-सी उज्ज्वला स्वयं
जिसके नयनों मे नीर नही वह विश्व पीर को क्या जाने ?
हाँ पूर्ण ज्ञान के लोचन रोते नही कभी
पर मानव बन कर मानव के सँग रोना पड़ता है गार्गी !
पुत्री की प्रथम विदाई में जो रो न पडे
वह भी मनुष्य है क्या भू पर ?
निज पुत्र वधू के आने पर जिसका अन्तर पुलकित न हुआ
क्या वह भी मानव है भू का ?"

देखा विदेह ने गार्गी के निर्मल कपोल पर
बादल के दो विह्वल टुकड़े के समान
दो आँसू कण को झरते भी
देखा जीवन के मन को तनिक सिहरते भी
श्रद्धा के पथ पर तप को तनिक ठहरते भी !



चतुर्थ सर्ग

सगीत-गीत प्रस्फुटित प्रीत-नव इन्द्रधनुप के पख खुल गये—
सतरंगी
मधु मदिर मोह माया अलसित सुर-साध्य रागिनी
हुई ध्वनित,
सौन्दर्य-चन्द्र कामना-क्षितिज पर हुआ उदित
वासना-वेणु स्वर-पथ पर नूपुर-हास हुआ
उल्लसित तरगित तरल तान से गूँज उठा प्रासाद भव्य
कल्पना-स्वर्ग-सोपान-पुष्प से उतर रही शत नर्त्तकियाँ
पुष्पालकृत वेणी मे लिये वसन्त सुरभि
कोमल कर मे लेकर कलियों की पखडियाँ
दृग मे भरकर अलका-रमणी का आकर्षण !

भू के इन्द्रासन पर बैठे योगी विदेह
देखते नृत्य के कला-कुज
बैठे है निकट नृपति के प्रिय ऋपि याज्ञवल्क्य—
जो नयन मूद कर सुनते है नूपुर-गुजन,
सगीत-नाट्य-कलरव प्रसन्न

दीपिकावली जल रही कक्ष के सभी ओर झिलमिल-झिलमिल
नृत्योत्सव की मधुरिमा-यवनिका उठी एक
प्रिय मदन-दहन का भाव-नाट्य प्रारम्भ हुआ
शिव के प्रशान्त तन पर फूलो के वाण लगे

सुन्दरता ने छू लिया अधर को एक बार
आलिगन का जादू वसन्त-बन मे फैला
रे, दिग्दिगन्त हिल गया रूप की साँसो से
साधना-शिखर पर भी चाँदनी सुव्याप्त हुई
चौके शकर तीसरे नयन को तनिक खोल
औ' हुई अनल-झकार एक
गिर पडा चरण पर कामदेव होकर अनग
तब उमा विहँसती-सी आई उस जगह स्वय
औ' वह अनग छिप गया पार्श्व मे चुपके से ।
नटराज उठे,
सुकुमार प्रिया के सग नृत्य मे हुये मग्न
अध्यात्म प्रेम के पख खोल नाचने लगा
वाद्यो का परिवर्तित रव सहसा गूंज उठा
सगीत-नृत्य हो गया शेष धीरे-धीरे ।

आये विदेह बाहर हँसते ऋषि याज्ञवल्क्य के सग-सग
औ' बैठ गये दोनो हरियाली के आसन पर एक साथ
है शरत्पूर्णिमा आज,
गगन की आभा उतरी है भू पर
चू-रहे हवा-हिलकोरो से शेफाली के उजले प्रसून
चन्द्रिका-वृष्टि मे निशिगन्धा की सुरभि-सृष्टि मिल रही स्वय
शीतलता के अमृत-कण झरते है झर-झर
लगता विदेह को यह धरती कितनी सुन्दर
कितनी मनहर

वे बोल रहे—हे याज्ञवल्क्य !

सौन्दर्य सत्य का ही स्वरूप
ओ' सत्य स्वय सुन्दरता की चेतना-सृष्टि
जिसकी सुज्योति मे शिवानन्द मगल सुलक्ष्य
धरती की शोभा धरती मे ही लीन व्याप्त ।

अम्बर धरती से भिन्न नही, वह एक सत्य का ही वितान
नीलिमा धरा की ध्वनि अनन्त
जिस पर शोभित नक्षत्र-फूल, रवि, शशि, तारे
वे सभी धरा के लिये दीप्त
वे सभी मनुज-हित ज्योतिर्मय
वे सब तम मे ही खिलते हैं
यदि तिमिर नही हो जग मे तो
आलोक नही विकसित होगा

नभ मे नीलिमा नही होती
तो सूर्य-चन्द्र लगते फीके
तारे भी नही दिखाई पड़ते भूतल से
इसलिये नीलिमा सत्य-स्वप्न
औ' प्रिय प्रकाश सौन्दर्य-पुज

मानव का ज्ञान-प्रकाश मनुज के तम से ही
आता है नव चेतना लिये इस धरती पर ।
जब ज्ञान चमक उठता है जीवन के नभ मे
तब तिमिर नही दिखलाई पडता है मन पर

वासना-घटा से ज्ञान-सूर्य क्या छिपता है ?
वह तो जलता ही रहता है ऊपर-ऊपर
जिसकी छाया पड़ती भू पर घन से छन कर !

मानव को मानव ही रहना अच्छा होगा
धरती ही स्वर्ग बनेगी मानव के कर से
मानवता की चेतना स्वर्ग की किसी सिद्धि से शिवमय है

इस मिट्टी मे ही मुक्ति मिलेगी मानव की
जीवन की कली खिली है इस मिट्टी से ही
इसकी पँखुडियाँ भी झरती है धरती पर ।

आकाश और अवनी दोनो आश्रित छवि है
एकता-पाश मे बँधा हुआ है एक सत्य
धरती की ध्वनि आकाश और नभ की ध्वनि हरी भरी धरती
जिस तरह जन्म मे मरण, मरण मे जन्म स्वप्न

है व्योम भूमि के लिये और यह भूमि व्योम के लिये व्यस्त
यदि शकर है आकाश, उमा प्यारी धरती
दोनो का बँधन प्रेम युक्त, है सृजनयुक्त
भू से ऊपर भी उठना होगा मानव को
आकाश नित्य देता है आमन्त्रण भू को ।
ये सूर्य चन्द्र नक्षत्र नित्य कुछ कहते है ।

इतने मे एक भिखारी आया नृप सम्मुख
फैलाया उसने कम्पित कर धीरे धीरे
चाँदनी रात मे पके बाल रेशम से कितने चमक रहे
काँपती हुई उस म्लान कान्ति पर रेखाये जीर्णता लिये
दीनता व्यक्त करती है एकाकी वय की
नीली पीली चमकीली आँखे करुणा से जल पूर्ण स्वय
उजली भौहे कर रही व्यग्य प्रति दर्शक पर
वह दयावान माँगता दया की भीख आज अपने नृप से

जो दर्शन मे ही उलझ-उलझ करते है नभ भू की बातें
पर एक प्रश्न इस मिट्टी का
माँगता एक उत्तर केवल
ऋषि याज्ञवल्क्य देखते शरद शोभा ऊपर
पर करुणा दृग को रोक रही अक्सर भू पर !

वह वृद्ध,
खडा है उसी तरह, उस मुद्रा मे ही डूबा सा
कर काँप रहा किंचित थर थर
है झुका कमर शिशिरान्त काल के पीले पत्ते के समान
दुर्बल हे पग युद्धान्त काल के घायल सैनिक सम केवल !

राजर्षि जनक ने उसे बिठाया निज सम्मुख
औ' स्वय पुकारा किसी एक प्रहरी को भी
वह वृद्ध राज्य का अतिथि हुआ जीवन भर के ही लिये आज
वह चला गया प्रहरी के सँग ।

पर याज्ञवल्क्य से कहा नृपति ने एक बार—
हे ऋषि उदार !
लगता है जैसे योग जनक का हुआ व्यर्थ
योगी हो यदि सम्राट, और हो भिक्षु राज्य मे भी उसके
तो योग एक साधना व्यग्य
जन मन के सम्मुख एक प्रदर्शन ही तो है
यदि कर्म योग से सम कल्याण नही होता
तो सत्य मर्म पायेगी कैसे यह धरती ?

मानवता का संगीत स्वप्न समता प्रसृष्टि हित ही केवल
आर्यों का जाति विभेद कर्म के सृजन हेतु
यदि ऊँच-नीच के लिये वर्ण निर्माण हुआ
तो मानव की एकता सहजता कटुता मे मिल जायेगी
यदि जन्म एक प्रतिकूल भाव ले आये तो
कर्तव्य मनुज को करना होगा जाति सदृश सर्वोदय हित
अन्यथा एक तूफान उठेगा धरती पर
जो मानवता का कलुषित बन्धन तोडेगा
कर्मानुकूल मानव ससार बसायेगा
औ' यही न्याय भी है जग का
मानव मानव ही है
प्रभुता से जब वह गर्वित हो जाता
तो वह दानव की शक्ति हाथ में लेता है ।

तप, योग, ज्ञान, बल, बुद्धि मनुज के अहँकार के लिये नही
ये तो विनम्रता और शीलता के हित है ।
उस वृद्ध भिखारी का स्रष्टा मै हूँ केवल
वह तो जीवन पुस्तक का सचमुच शेष पृष्ठ
जो झाक रहा है जीवन की सन्ध्या अपनी
वह एक अकेला ही जग मे
परिवार नही, घर द्वार नही
जीवन वीणा की वह अन्तिम झकार स्वय
है एक तार झकृत केवल
असहाय हाय, वह इसी अवस्था मे भिक्षाटन करता है
यह किसका है अपराध ?
वृद्ध का नही, राज्य-सचालक का ।

वह देश जहाँ रोती-फिरती है भूख स्वयं
विद्या विहीन है नर-नारी
सगीत, कला, साहित्य नही
आचरण नही जन-जीवन मे
उसका सचालक दोषी है, मानवता के कारागृह मे
वह बदी है !
धरती राजा की नही, मनुज की ही केवल
राजा तो केवल रक्षक है, न्यायी है, सेवक, प्रहरी है
वह नृपति जो कि सम-न्याय लिये
करता सुकर्म इस धरती पर वह कर्म योग का मानव है
वह स्वय महात्मा है अपने सिहासन का
जन-मन-वन का वह ऋषि महान कर्त्तव्य लिये !
मानवता का वह कलाकार
जो सत-शिव-सुन्दर चित्र बनाता जन-मन मे

सम्पूर्ण देश है एक चित्र
सातो रँग जिसमे लगते है
सम्पूर्ण देश सगीत स्वय,
सम्पूर्ण देश साहित्य-रूप
इस तरह देश का नृपति एक विभ्राट मनुज
जो सदा सत्य पर रहता है शिवगधमयी सुन्दरता की
कामना लिये
करता नवीन कल्पना नित्य
रचना है जीवन-ज्योति-मूर्ति
भरता है संयम-शुभ्र प्राण

शिव-ब्रह्म-विष्णु की छाया में रहता नरपति का परम कर्म
है यही धर्म इस धरती का
जब कर्म ज्योति सचय करता वह धर्म स्वय हो जाता है
मानव-विधान का सत्य धर्म की ध्वनि-सुज्योति ।

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले—विदेह !
मानव का मन सयम के बन्धन मे ही रहता है पवित्र
कर्मों का फल कैसे न मिलेगा मानव को ?
पर देख रहा हूँ मै भी अब
सघर्ष उठ रहा है नूतन मन-प्राणो से
है खडा सत्य पर न्याय स्वय
मनुष्यत्व ढूँढता ज्योति-पुष्प भू के समस्त उद्यानो मे
जल-जल उठता विश्वास तर्क की लपटो से
दर्शन मे ईश्वर की छाया भी काँप रही ।

सच है महर्षि !—बोले भूपति—
मनुष्यत्व न्याय मे ही रहता
क्या सत्यान्वेषण बिना न्याय से सभव है ?
जिसके जीवन मे न्याय नही, वह सत्य नही पा सकता है
जो न्यायवान, जो सत्यवान है वही मनुज ईश्वरमय भी
अन्तर विकास आर्यो का हुआ बहुत लेकिन
भौतिक-विकास का सत्य रो रहा है भू पर
मै प्रजा-समर्थित हूँ नरेश
पर हूँ तो एक मनुज ही मै
राजा भी एक प्रजा ही तो है न्यायपूर्ण
सम्राट सृष्टि का स्वय सत्य है हे महर्षि !

क्या सत्य नही चाहता, मनुज समतामय हो ?
लेकिन मनुष्य भी तो विचित्रता से शोभित है जन्मजात
है भरी विविधता जीवन मे स्वाभाविक गति-उत्सुकता से
कैसे ज्ञानोदय हो समस्त चेतनापूर्ण मानव-जग में ?
ज्ञानी होना तो कठिन कार्य है धरती पर
इसीलिये सहजता के पथ पर अधिकाँश मनुज चलते रहते
अध्यात्म-लक्ष्य सबके हित संभव नही यहाँ
भू-न्याय-प्राप्ति भी तो है सत्योज्ज्वल सुकर्म !

यदि ब्रह्म-मर्म-अन्वेषण से भागता मनुज
तो कर्मपूर्ण जीवन ही क्या कम कठिन यहाँ ?
भू का भविष्य मानव-समता को देख रहा
निश्चय मनुष्य जीवन का बन्धन खोलेगा
हे याज्ञवल्क्य ! नृप के विशाल सम्पति कोश का अधिकारी
है प्रजावृन्द।

उजले बादल ने आकर शशि को घेर लिया
यह देख जनक-चिन्तना हो गई शेष
वेश कुछ बदल गया नभ का सहसा
तारों की झिल मिल वेला मे !

× × ×

उस दिन सुमेरु-गिरि के उत्तुंग शिखर पर ही
सुविशाल वृक्ष की छाया मे जिस जगह एक
पतली निर्झरिणी बहती थी
कुछ फूल झर रहे थे समीर के झोके से,
दो हिरणी आकर पानी पीती थीं चुपके
दृग से सीगो को देख-देख

मृग-शावक अपनी परछाईं थे देख रहे निज कर्ण हिला
दो-चार पहाडी चिडियाँ भी थी फुदक रही उस ओर जहाँ
हरियाली पर शीतलता सोई थी आकर
जिसके आँचल को उडा रही थी मुग्ध वायु
नव उदित वक्ष के पुष्प-गुच्छ भी हिलते थे
साँसो से सुरभि निकलती थी धीरे-धीरे !

उस देवदारू से तनिक दूर
पत्थर के ऊँचे टीले पर जो हरित घास से शोभित है
जिस जगह एक गिरि-प्राणो से वह जल-प्रपात
झरता झर-झर
बैठे है चिन्ता-मग्न व्यास लम्बी दाढी पर हाथ दिये
सिर पर शोभित गेरुआ शुभ्र निर्मला जटा
लट नीचे तक है लटक रहे भूरे-भूरे
है व्याघ्र चर्म शोभित तन पर।

उस टीले के नीचे
प्रस्तर पर बैठा है बालक प्रबुद्ध
नयनो मे घोर उदासी है
मुख की ध्वनि मे अनुरक्ति नही
जीवन मे एक विरक्ति भाव
ज्ञानी होकर ही वह निकला जननी के ज्योति उदर-गृह से।
है वन-जीवन का अभिलाषी
इसलिए व्यास है अति चिंतित
यह उनकी इच्छा के विरुद्ध बन रहा स्वय ही सन्यासी
शुकदेव नाम उस बालक का जो आत्म ज्ञान से हीन, शून्य !

सोचते व्यास धरती पर ऐसा कौन पुरुष
जो दे सुपुत्र को आत्म ज्ञान
वह कौन महर्षि मनुज जग में जो बने पुत्र-गुरु जीवन में
सम्पूर्ण दृष्टि में विश्व चित्र झाँकने लगा
सामने विहँसने लगे जनक ज्योतित विदेह
अभिलाषा की मुस्कान वहाँ पर रुकी स्वयं
औ' कहा व्यास ने निज सुपुत्र से—हे सुतात !
जाओ तुम मिथिलापुरी जनक के यहाँ स्वयं
वे हैं विदेह आलोकपूर्ण
दे सकते वे ही आत्म ज्ञान
वे योगिराज इस युग के परम प्रकाण्ड मनुज
प्रस्थान करो हे तात, इसी क्षण ही पथ पर !
चलते चलते दो तीन वर्ष के बाद यहाँ तक पहुँच गये
शुकदेव आज
आश्चर्य चकित हो गये देख कर मिथिला को
जो आर्य-ज्ञान का केन्द्र स्वयं
शिशु की वाणी में भी दर्शन साहित्य मिला !

मिथिला के राजद्वार निकट शुकदेव खड़े हैं हर्षाकुल
तरु मौलसिरी की छाया में उनकी उत्सुकता पूछ रही—
हे द्वारपाल ! रहते हैं योगी जनक कहाँ ?
मैं आया हूँ उनसे मिलने
तुम मुझे वहाँ ले चलो शीघ्र
"है काम कौन ?" प्रहरी के मुख से निकल पड़ा—
तो तुम कोई सम्वाद लिये आये हो क्या ?"

"सम्वाद नही, दर्शन चिन्तन हित आया हूँ
मै व्यास पुत्र हूँ, आत्म ज्ञान लूँगा उन से।"
प्रहरी ने हँस कर कहा कि तुम तो बच्चे हो
कैसे समझोगे आत्म ज्ञान की परिभाषा का घोर सत्य ?
तुम ज्ञान समझते हो कुछ भी ?
देखूं तुममे कितनी विवेक की ज्योति छुपी ।

आश्चर्य चकित शुकदेव सोचने लगे तुरत--
मिथिला का प्रहरी भी करता है ज्ञान-तर्क
निश्चय ही योगी जनक एक विभ्राट पुरुष
वे बोल उठे—हे तात, ज्ञान चेतनाह्वान
जिसकी ध्वनि सुन कर्मोपरान्त मानव देखता विमुक्ति स्वप्न ।"
"तुम स्पष्ट नही क्यो कहते प्रिय,
है ज्ञान कर्म-सधान शक्ति
जिसके अन्तर मे जीवन आत्मोदय प्रशान्त
जो मानव को मानवता में परिणत करता ।"
"मानवता ?
मानवता ही उद्देश्य मनुज के जीवन का ?—
जीवन का चरम विकास सजग सन्यास सिद्धि ?
उत्सर्ग लक्ष्य है मानव के सत्कर्मों का"—
वोले शुकदेव प्रखर स्वर से

तव प्रहरी ने कह दिया उन्हे--
उत्सर्ग ! और सन्यास सिद्धि ?
हे योगिराज ! तुमने आँधी को देखा है ?
देखा तो होगा निश्चय ही

जीवन के पथ में बाधाएँ आती रहती है बार-बार
उन बाधाओं की राहों पर कर्त्तव्य प्रतीक्षा करता है
कहता है—ओ निर्भय मनुष्य निर्माण करो निज सपने का
अन्यथा मौन चलने मे जीवित सत्य नही मिलता पथ पर ।
कर्मों की विजय प्राप्ति ही तो सत्कर्म मर्म
मानव के सम्मुख विजय चिह्न है लगा हुआ
जिसके अनेक है अर्थ समय की लहरो मे
उत्सर्ग और सन्यास सिद्धि भी विजय युक्त अभिनन्दन है
जिसकी अन्तर्ध्वनि छाया मे संतोष शान्तिमय हो जाता
देखो बालक !
इस धरती पर आडम्बर भी फैलने लगा
संन्यास आवरण में यश के कामना-स्वप्न को मत देखो
देखा है मैंनें ऐसे भी सन्यासी को
जिसके यौवन का ज्वार उमड आया चुपके वासना सोम के उगने से
निज स्वाभाविक इच्छा के भी प्रतिकूल मनुज
चाहता भागना धरती के कोलाहल से
भीषण अरण्य की छाया से मानव निकुज क्या सफल नही ?
देखो विदेह को ओ ज्ञानी !
कर्मोन्मुखी योगासन पर बैठे है निज साम्राज्य लिये
अनुशासन के सिहासन पर नृप है अवश्य
पर वे नरेन्द्र से अधिक एक मानव ही है
वह मानव जिसकी उत्कठा ही आत्म चेतना का प्रकाश
जो स्वयं सर्व उत्तर अन्तर के प्रश्नों का !

वैराग्य शिशिर के प्राणो मे अनुराग वसन्ती पवन
झूमता चला गया

"सम्वाद नही, दर्शन चिन्तन हित आया हूँ
मैं व्यास पुत्र हूँ, आत्म ज्ञान लूँगा उन से।"
प्रहरी ने हँस कर कहा कि तुम तो बच्चे हो
कैसे समझोगे आत्म ज्ञान की परिभाषा का घोर सत्य ?
तुम ज्ञान समझते हो कुछ भी ?
देखूं तुममे कितनी विवेक की ज्योति छुपी !

आश्चर्य चकित शुकदेव सोचने लगे तुरत—
मिथिला का प्रहरी भी करता है ज्ञान-तर्क
निश्चय ही योगी जनक एक विभ्राट पुरुष
वे बोल उठे—हे तात, ज्ञान चेतनाह्वान
जिसकी ध्वनि सुन कर्मोपरान्त मानव देखता विमुक्ति स्वप्न।"
"तुम स्पष्ट नही क्यो कहते प्रिय,
है ज्ञान कर्म-सधान शक्ति
जिसके अन्तर मे जीवन आत्मोदय प्रशान्त
जो मानव को मानवता मे परिणत करता।"
"मानवता ?
मानवता ही उद्देश्य मनुज के जीवन का ?—
जीवन का चरम विकास सजग सन्यास सिद्धि ?
उत्सर्ग लक्ष्य है मानव के सत्कर्मों का"—
बोले शुकदेव प्रखर स्वर से

तब प्रहरी ने कह दिया उन्हे—
उत्सर्ग ! और सन्यास सिद्धि ?
हे योगिराज ! तुमने आँधी को देखा है ?
देखा तो होगा निश्चय ही

जीवन के पथ में बाधाएँ आती रहती है बार-बार
उन बाधाओं की राहो पर कर्त्तव्य प्रतीक्षा करता है
कहता है—ओ निर्भय मनुष्य निर्माण करो निज सपने का
अन्यथा मौन चलने मे जीवित सत्य नही मिलता पथ पर ।
कर्मों की विजय प्राप्ति ही तो सत्कर्म मर्म
मानव के सम्मुख विजय चिह्न है लगा हुआ
जिसके अनेक है अर्थ समय की लहरो मे
उत्सर्ग और सन्यास सिद्धि भी विजय युक्त अभिनन्दन है
जिसकी अन्तर्ध्वनि छाया में संतोप शान्तिमय हो जाता
देखो बालक !
इस धरती पर आडम्बर भी फैलने लगा
संन्यास आवरण में यश के कामना-स्वप्न को मत देखो
देखा है मैंने ऐसे भी सन्यासी को
जिसके यौवन का ज्वार उमड आया चुपके वासना सोम के उगने से
निज स्वाभाविक इच्छा के भी प्रतिकूल मनुज
चाहता भागना धरती के कोलाहल से
भीपण अरण्य की छाया से मानव निकुंज क्या सफल नही ?
देखो विदेह को ओ ज्ञानी !
कर्मोन्मुखी योगासन पर बैठे है निज साम्राज्य लिये
अनुशासन के सिहासन पर नृप है अवश्य
पर वे नरेन्द्र से अधिक एक मानव ही है
वह मानव जिसकी उत्कठा ही आत्म चेतना का प्रकाश
जो स्वय सर्व उत्तर अन्तर के प्रश्नो का !

वैराग्य शिशिर के प्राणो मे अनुराग बसन्ती पवन
झूमता चला गया

निद्रा के शुष्क मरुस्थल मे पावस की एक घटा आकर
यों गरज उठी
जन्मान्ध भावना की आँखे सपने मे जैसे खुली प्रथम छवि के समक्ष
प्रिय व्यास पुत्र प्रहरी की जिज्ञासा के वन मे खडे रहे,
प्रहरी बोला--"तुम जन्म जात योगी हो, मै यह जान रहा
पर कैसे मानू ज्ञान तुम्हारा है विशाल
तुम सुन्दरता का सत्य नही पहचान सके
तुम नारी के प्रेमाश्रु नही पहचान सके
चाँदनी फूल मे क्या है इसे न जान सके
सयम की शोभा मे ही केवल ज्ञान नही
भारती नही रहती केवल उज्ज्वलता मे।

तम और विभा के सगम पर जीवन की सरिता बहती है
परिमल से ओतप्रोत शुभ्र शतदल पर वाणी बैठी है
कह रही हृदय वीणा की मृदु झकार बुद्धि से बार बार—
यह अन्धकार
यह है प्रकाश
दोनो का चिर अस्तित्व सृष्टि की प्रगति शक्ति
जीवन की विषम विविधता में नित नया ज्ञान मिलता रहता
है प्रकृति ज्ञान जननी इसमे सन्देह नही
पर मानव का विभ्राट ज्ञान मानव समूह में ही केन्द्रित
सम्पूर्ण भूमि पर मानव ही है ज्वलित ज्ञान
आदमी समस्याओ का है तूफान एक
आदमी परिस्थिति की आँधी है धरती पर
इसलिये मनुज का जीवन ही है ज्ञान पिता
मानव के वन मे कर्म-तपस्या से बढ कर भी कठिन योग ?

पर योग नही केवल इतना
साधना और संयम का आत्मिक अन्वेषण की सिद्धि
चाहिये योगी को
चारित्रिक ज्योति-सुगन्ध चाहिये साँसो मे
जो घृणा और तम से भागे वह चारित्रिक आलोक नही
है वही प्रेम जिसके सम्मुख वासना न आँखे मिला सके
वासना वही जो मानव की चेतना हरण कर ले दृग से
ले जाये मन को उड़ा किसी निर्झर तट पर
जिस जगह रात, बरसात, और कुछ नही वहाँ !
मानव की तृष्णा मे केवल है भोग नही
सुख की समस्त अभिलाषाये करती क्रीड़ा
मन के प्रशान्त सागर-तट पर
तृष्णा के शव को जला दिया जिसने अनुभव की ज्वाला से
वह महा मनुज ज्ञानी है अपने जीवन का
पर तृष्णा को त्यागता कौन ?
तृष्णा के फूलों के रस मे डुबकियाँ लगाता है मनुष्य
कहता, जीवन का सुख है छवि की छाया मे
कामना सफल करना ही तो उद्देश्य यहाँ
इच्छाओ का अति दमन एक अन्याय घोर
मन स्वयं प्रबल सम्राट वासना की अनन्त क्रीड़ाओं का
अन्तर की आकुल प्यास बुझाना जीवन का आनन्द-स्वप्न
पर आर्यो की इस मिट्टी पर आत्मा की किरणे आई है
जीवन को ज्वलित बनाने वाला तप का संचय हुआ यहाँ
मानव उर-तम से नही तेज से दिव्य बना
मानव स्वप्नो से नही सत्य से चमक रहा

उन्नत चरित्र का दीप न बुझ पाता भीषण तूफानो से ।"

प्रहरी की भाषा-नौका पर है व्यास-पुत्र चुपचाप खडे
अन्तर-विचार-लहरें टकराती है मन से
जब प्रकट हुई यह बात कि प्रहरी भी ऋषि है
तब एक बार वे हुए स्तब्ध परिश्रान्त मौन
पर उसने भी कह दिया उसी क्षण—हे ज्ञानी !
जगल की ओर नही जाना निज जीवन में
मानव-वन मे अनुभूति–चाँदनी आती है !
अवतरित बाल सन्यासी ! तुम सच-सच कहना
सगीत सुना है कभी किसी दिन जीवन मे ?
क्या अब तक तुमने नही सुना ?
आत्मा की बहती नदी नही अब तक देखी तुमने योगी ?
तो क्या समझोगे जीवन को !
कोई भी योगी जब तक कला न छू पाता
उन्मुक्त ज्ञान की आभा में
उस योगी मे मातृत्व-आत्म की शक्ति नही अन्तर-तर में
कहने को है आकाश शून्य
पर देखा है तुमने तारो की शोभा को ?
आँखो मे चाँद उतारा है ?
आँसू में हँसते देखा है परछाई को ?
हिम-कणिका को फूलो पर झरते देखा है
एकान्त निशा के आँगन मे ?
योगी ! तुम पहले देखो सारी चीजों को
तब पूछो अपने जीवन से क्या करना है
इसलिये व्यास ने भेजा है इस जगह तुम्हे

अन्धी आँखे क्या जाने प्राकृतिक छवि को !
ज्ञानान्ध मनुज क्या समझे अनुभव की भाषा !
अच्छा मैं जाता हूँ विदेह के पास अभी
तुम पाओगे जीवन के सर्वोत्तम साधन !

इस तरह तर्क के सात सेतु को ज्ञान-चरण ने किया पार
तब पहुँचे प्रिय शुकदेव स्वयं उस पार जहाँ था बन्द द्वार
नृप की आज्ञा से सप्त दिवस तक व्यास-पुत्र रह गये वहीं
आदेश और आज्ञा के संगम पर संन्यासी खड़ा रहा ।
सातों दिन के भोजन वैसे ही पड़े रहे ।
प्रहरी ने आग्रह किया उन्हे
पर पी न सके पानी भी वे
बोलते रहे सबसे इतना
मै प्रथम करूँगा दर्शन ही मिथिलापति के !
इस हठ की चर्चा फैल गई कुछ इधर-उधर
आये अमात्य भी स्नेह लिये !
पाँचवे दिवस सन्ध्या वेला
कितनी महिलाएँ भी आई
औ' ठीक उसी क्षण एक विदूषक भी आया
बोला सब से यह तान्त्रिक है
आया है रूप बदल कर ही
लगता है जैसे पख कट गये है इसके
यह अम्बर मे उड़ने वाला है जीव एक
पर बच्चा तो मानव का है !
नारी विस्मय की आँधी में घूमती रही

औ' कुशल विदूपक विकल नयन को फाड-फाड
यो अट-सट बोलता रहा वह रह-रह कर-
इसके मस्तक पर हस बैठता है आकर
यह सागर का पानी पीता है सात बार
फूलो का व्यजन ही खाता है इसीलिये
मस्तक का रग सुनहला है।

कुछ महिलाये यह सुन-सुन कर
हँस रही वस्त्रसे मुँह ढँक कर
पर कुछ करुणा का दीप लिये देखती सत्य को बार-बार
औ' पुष्प चढा देती है उनके चरणो पर अति श्रद्धा से।

सातवे दिवस नर्तकियो के उल्लास-हास से
गूँज रहा है राज भवन
सुन्दर परिधानाभूषण से हो रहा अलकृत मजुल तन
है खिले वक्ष के फूल, जहाँ लहराते हीरक हार शुभ्र
अधरो पर उपा हास, अलको पर पुष्प गुच्छ है दर्शनीय
मुक्ता मणि रत्न जटित सिंहासनपर बैठे है मुक्त जनक
आकर्षण की लहरे वीणा पर दौड रही
उत्तेजित मृदु झकार प्राण के द्वार-द्वार को खोल रही
औ' बोल रही—आनन्द रहित मानव जीवन अभिशाप एक
आनन्द मनुजता की नैसर्गिक तृप्ति स्वय
अभिलाषा का साधना कक्ष आनन्द प्राप्ति।

आदेश-मार्ग से व्यास पुत्र आये भीतर
आते हो वन्दन किया नृपति को प्रथम बार
पर हुआ घोर आश्चर्य देख कर राग दृश्य—
क्या यही जनक है वैरागी, सन्यासी, तपसी औ' महर्पि ?

सौन्दर्य वक्ष पर क्या कठोर साधना हस्त भी है सम्भव ?
मानव का पतन पतित कर्मो से होगा ही ।

जिज्ञासा के गतिमय रथ पर द्रुत ज्ञान सारथी बैठ गया
मन के प्राणो का पथ ज्योति से चमक उठा
औ' व्यास पुत्र शृगार स्नात अति मग्न जनक की
आँखो को देखने लगे
जो खुली प्रभात कमलिनी सी धीरे-धीरे मधु मदिर अलस
सगीत लिये
बोले वे—तुम हो कौन वत्स ?
औ' व्यास पुत्र ने अभिलाषा की सुरभि उडा दो एक बार
उत्तर के गृह मे सप्त दिवस फिर पडे रहे
सुनसान प्रतीक्षा-द्वार खुला ही रहा नेत्र की पलको पर ।

उस दिन सन्ध्या मे मेघ उमड कर चले गये
बिजलियाँ चौंक कर लुप्त हो गई, जलदारण्य सघन मग म
रजनी की माया चन्द्रकलश लेकर आई
उन्मत्त पवन हिलकोरो मे फूलो की भापा दौड़ पड़ी
कामना-रागिनी व्याप्त हो गई सभी ओर
औ' निद्रित उस एकान्त अतिथि के प्राणो पर
सुन्दरता की झकार एक हो गई खडी
सपने मे जैसे एक सुन्दरी आ पहुँची आवरण-हीन
पतझर की नगी डाली मे ही फूल खिल गये गुच्छ-गुच्छ
सुन्दरी स्वप्न के फूलो की पखड़ियो पर सो गई तनिक
फिर उठी तुरत अँगराती-सी, कुछ मन्द-मन्द यों गाती सो
उल्लसित नृत्य की छाया मे, भावना-कोकिला कूक रही
चाँदनी नदी वह रही रात के जीवन पर

यौवन की अन्तर-प्यास निकल कर दूर-दूर तक फैल गई
आया प्रभात का परिवर्तन
हो गया शेष मोहक नर्तन
तम रहित ज्ञान जागा सहर्ष
पहुँचे शुकदेव विदेह निकट ।

विनयानुकूल जिज्ञासु खडा है रवि समक्ष
सम्पूर्ण चेतना देख रही है नयनो को
बोले विदेह—हे आर्य पुत्र । बैठो आसन पर ध्यानमग्न
वे बैठ गये होकर प्रसन्न
बोले महर्षि—दीपक से होता दूर नही है अन्धकार
तम का विनाश होता है दीप जलाने से ।
इसलिये मनुज है दीप सदृश
मानवता है उसका प्रकाश
मानव के सर्व-गुणो का कर्म-प्रवाह मनुजता का
जीवन है व्यास-पुत्र !
वासना हरण जो कर लेता वह है विमुक्त
करता सचय चेतना वही तो है योगी
अनुभव से विद्या पाना ही है महा ज्ञान
उपदेश और चिन्तन से कर्माचरण श्रेष्ठ है धरती पर
आचरणहीन ज्ञानी असत्य का दानव है
सचमुच गृहस्थ का जीवन दुस्तर है योगी, सन्यासी से
इसलिये सफल मानव है महा तपस्वी अपने जीवन का
साधक है वह जो कर्म-मध्य मे मुक्त रहे
है त्याग वही जिसके सम्मुख आये न स्वार्थ
औ' विना त्याग से प्रेम नही मिलता जग मे

है दया और कल्याण जहाँ, है वही प्रेम
है साम्य जहाँ, है न्याय वही !

शका की आँधी उठी एक मानस-वन मे
उर के समुद्र की लहर हो उठी अति चञ्चल
जिज्ञासा की नौका डगमग हो उठी तुरत
तब मन का नाविक बोल उठा--राजर्षि जनक !
क्या मुक्त मनुज भी नृपति नीति का संचालन कर सकता है ?
चिन्तना रहित हो नृपति मुक्त मानव, यह भी सम्भव है क्या ?
हँसकर विदेह ने कहा कि हाँ, यह सम्भव है
जैसे वन के सन्यासी को भी किंचित चिता रहती है
शौचादि और मृग चर्मो की
मै उसी तरह संचालन करता हूँ भू का
है जहाँ सत्य औ' न्याय वहाँ चिता ही क्या ?
नैसर्गिक बाधाओं से चिंतित हो जाते है मन्त्रीगण
औ' सत्य-चिन्तना तो मानव का चरम ध्येय !

शुकदेव हो गये मौन
किन्तु सन्तोष विटप की नवल डाल पर एक कोकिला कूक उठी
हिल गये गुच्छ के गुच्छ फूल
जब तृप्ति हवा बह उठी वसन्ती गति लेकर
आनन्द द्वार खुल गया प्राण के मन्दिर का !
दूसरे दिवस,
निर्मल प्रभात आया जब बीती रजत रात
छलकी सोने की किरण सरोवर के मन पर
निकले विदेह गम्भीर, धीर शुकदेव सग

सेवक ने व्यास पुत्र के कर में स्वर्ण पात्र रख दिया एक
अज्ञात प्रश्न विस्मय का खडा रहा उर पर
बोले विदेह—हे व्यास पुत्र !
तुम आत्म ज्ञान के पूर्व नगर का भ्रमण करो
सयम से रखना स्वर्ण पात्र
देखना कही छलके न क्षीर
यदि एक बून्द भी गिरा
ज्ञान दूँगा न तुम्हे
इसलिये पात्र पर ध्यान सदा रखना पथ मे
अवलोकन के हित दो प्रहरी भी जायेगे
यदि एक बून्द भी गिरा दुग्ध
ये तुरत लौट कर आयेगे
इसलिये रहो प्रिय सावधान
इस कठिन परीक्षा से निकलेगा ब्रह्मज्ञान
तुम हो महर्षि के पुत्र
न भूलो मेरा यह आदेश-सूत्र
पथ पर जाओ

भ्रमणोपरान्त सम्मुख आओ
इच्छानुकूल सब कुछ पाओ
जाओ जिज्ञासा के यात्री,
यह रात्रि नही, दिनमणि की किरणे फैल चुकी
आँखो को रवि-आलोक शक्ति है मिली हुई
यात्रा को सफल करो यात्री !

मन पर प्रसन्नता जाग उठी

अनुशासित चरण बढे पथ पर धीरे-धीरे
पग-पग पर बाधाओ की अलका उतर रही
झकार उठ रही नूपुर की
सुन्दरता की किन्नरियाँ घेर रही मन को
जीवन को रोक रही बाहे
युवती यौवन की लता हिल रही कही-कही
काँटे, कलियाँ, आकर्षण की हिलकोर, झकोर समीरण के
उन्नत उरोज सौन्दर्य, कपोलो के इगित
नयनों की मधुर पुकार, द्वार के रूप ज्वार
उपहार मनुज कामना पूर्ण, सब व्यर्थ हो रहे है पथ पर
ये स्वर्ग दृश्य आते न दृष्टि मे एक वार
दुर्बलता के उदगार, प्यार, स सार सभी लज्जित होते !

प्रहरी मन हो मन अति प्रसन्न हो रहे परीक्षा के क्षण मे
वह स्वर्ण पात्र देखता सफलता की शोभा
इतने मे अति चचल रमणी
गगरी लेकर हो गई खडी
आँचल सँवारने लगी डगर पर रुक कर हो
पर चरण रूप की लहर पार कर बढ निकले !
नौका के तट पर आने के पहले फिर ज्वार उठा सहसा
सुन्दरता की पद्मिनी स्नान कर रही प्रशान्त सरोवर मे
सौन्दर्य-पाटली पहन रही है नील वस्त्र
पर चित्त शान्त !

यात्रान्त काल मे आग लगो

झोपडियाँ जलने लगी तुरत
वह पर्ण कुटी भी जलती है जिसमे विदेह ।
भीषण कोलाहल हुआ
ध्यान टूटा सहसा
औ' चौक उठे प्रिय व्यास-पुत्र
कर काँप गये
हिल गया दुग्धमय स्वर्ण पात्र
पर एक बून्द भी गिरा नही !

आये विदेह,
बोले सहर्ष—हे तात, पात्र रख दो भू पर
तुम सफल रहे इस यात्रा मे
पर बोलो तो, क्या-क्या देखा अपने पथ पर ?
क्षण भर शुकदेव हुए चिन्तित
रह गये मौन
फिर बोल उठे—राजर्षि, न कुछ भी देख सका
गुरुदेव, न कुछ भी सुना कही
मेरा तो केन्द्रित ध्यान पात्र पर रहा सदा
इसलिये हाय, कुछ देख न पाया निज पथ मे
दो क्षमा दान,
पर हे महर्षि दो मुझे ज्ञान !
तब कहा जनक ने—व्यास पुत्र,
जीवन भी तो है एक पात्र,
ससार परीक्षा-गृह है सचमुच मानव का
प्रत्येक साँस है अमृत तुल्य

मिथिला मे भ्रमण किया तुमने—
जिस तरह आज अति ध्यानपूर्ण
मैं भी रहता हूँ इसी तरह इस धरती पर
अन्तर के योगपूर्ण लोचन देखते प्राण के अमिय पात्र
यह जीवन-पद्म पक से है अति दूर, दूर
है मन मृणाल पानी मे भी
पर चेतनता की सभी पंखड़ी है विमुक्त
औ' आत्म सुरभि अति सूक्ष्म वायु मे सदा व्याप्त
इस तरह देह मे ही विदेह मेरा मनुष्य
है यही जनक का आत्म ज्ञान
है यही सत्य सम्मान प्रेममय जीवन का
मानव की अन्तर्दृष्टि यही
है यही सृष्टि की अमर ज्योति
आत्मानुभूति का यही प्रकाश चिरन्तन है !

सघर्षों से मत भागो हे शुकदेव कही
गृह के योगी वन के योगी से अच्छे है
एकान्त गुफा में एकाकी साधना सृष्टि
कोलाहल मे तप करो, यही आज्ञा मेरी
सज्ञान व्यास ने भेजा है इसलिये तुम्हे मेरे गृह पर
जाओ जीवन को दीप्त करो जग के मग मे
उत्सर्ग करो जीवन को कर्म-कठिन व्रत मे
गति दो चरणों में, कर मे हित की शक्ति भरो
विचरो सुख मे, दुख मे प्रसन्नतापूर्ण स्वय

मत भागो बन मे हे जीवन योगी अधीर
पीर को सहो,
शरीर जला दो अन्तर ज्वाला मे
जाओ यात्री जीवन पथ पर . ?



पञ्चम सर्ग

बीते वर्षा के तीन बरस धीरे-धीरे
जैसे दुख के दिन जल्दी नही बीतते है
मानव पीड़ाओं की शय्या पर सो-सो कर
आँखों के अश्रु पोंछते है थर-थर कर से
चिन्ता की चिनगारी उड़ती रहती प्रतिपल
वेदना निकलती है कराहती साँसों से
मन ऊब-ऊब कर आकुल व्याकुल हो जाता
जब औषधि से कुछ लाभ नही हो पाता है
मस्तिष्क वैद्य का हो जाता है स्तब्ध मौन
आश्चर्य आवरण लिए मृत्यु जब आ जाती
उस समय न जाने क्यों मानव कह उठता है
हे ईश्वर ! तू ही बचा मुझे
उपचार सभी हो रहे व्यर्थ नर-साधन के
हे सीमाहीन ! सुरक्षा कर इस जीवन की !

औ' कभी-कभी
झाँकती हुई भय भरी मृत्यु
उड़ जाती छू कर शयन-द्वार
आदमी दूसरी करवट ले चंगा हो जाता चुपके से
औ' वैद्य सोचने लग जाता भीतर-भीतर
भ्रमपूर्ण दार्शनिकताओं से घिर जाता है

लेकिन असत्य के मुख से वह कह देता है
यह मेरी स्वर्ण सफलता है अत्यन्त कठिन ।
पर कभी-कभी प्रार्थना सत्य को घेर लिया करती स्वर से

मिथिला मे घोर अकाल पडा
बीते पावस के तीन बरस
घिर सकी नही नभ मे बदली
मेघो की छाया भी न दिखाई पडी कही
सुन सका न कोई भी असाढ-सावन-गर्जन
भादो की आशाओ की घटा नही उमडी
गर्मी की आँधी उठी सूर्य-मडल-गृह से
आकाश आग-सा तपा किरण-कोलाहल से
अगार पिघल कर धरती पर दौडता रहा
मिट्टी के कोमल अग-अग फट गये सभी
नदियो के जल सूखने लगे धीरे-धीरे
पोखरियो का पानी गर्मी ने सोख लिया
केवल कूएँ मे नीर शेष ।

औ' अन्न ?
है चारो ओर पुकार एक दुर्भिक्ष ! भूख !
अति दूर-दूर से अन्न आ रहे हाथी पर—
बैलो पर बैलगाडियो पर
वालुका देश से ऊँट आ रहे है लदकर
जिस तरह वर्ष का पहला मेघ बरस कर द्रुत
धरती मे हो जाता विलुप्त
उस तरह अन्न आते, हो जाते हैं विलीन ।

मिथिला के अन्नागार शेष
करते न जनक हैं अन्न ग्रहण
उपवास—महीनों से केवल उपवास हाय,
सम्राट स्वयं भूखा सच्चाई के गृह में
बस यही एक सन्तोष प्रजा के प्राणों मे !

फिर भी अकुलाती राज भक्ति
आते जन गण, कहते नृप से—
व्रत का बन्धन तोड़े नरेश
जन के नयनो में अश्रु-सिन्धु
अब कोई भूखा नहीं मर रहा है भू पर
मरने वाले मर गये भूख की छाया मे
पत्ते भी खाने पडे परिस्थिति मे आकर
पर प्रिय विदेह गम्भीर शान्त
योगानुरक्त, ध्यानावस्थित
है वाह्य रूप किंचित विचलित
पर अन्तरतर अति आलोकित !

आती अकाल के सग क्रान्ति
जीवन प्रशान्ति के प्रश्न और उत्तर लेकर
मिथिला से निकलेगी किरणे
कर रही प्रतीक्षा यह मिट्टी—युग सोच रहा ।

भीषण अकाल मे मरे सहस्रो मानव भी
जन-हाहाकार उठा ऊपर
कोलाहल से गूँजा अम्बर

इतिहास स्वय आकर पूछने लगा नृप से—
"मै लिखता हूँ यह भूख-सत्य
जो मृत्यु गरल से ओतप्रोत
मिथिला का प्रथम कलक चिह्न यह है नरेन्द्र
योगी नृप के सम्मुख भी यह दुर्भिक्ष स्वप्न ?
यह घोर मृत्यु सगीत कहाँ तक जायेगा ?
सम्राट ! तुम्हारे जीवन का यह तिमिर-चित्र !
उत्तुग हिमालय की छाया मे यह अकाल ?
निर्भर का स्रोत यहाँ तक आ सकता था नृप
है प्रथम कर्म तब योग साध्य
सिहासन के योगी ! पहले सिहासन का सम्मान करो
तब करो तपस्या का आत्मिक आह्वान पूर्ण
यदि तप से जन बल नही हो सके स्वस्थ, स्वच्छ
तो यह तप निज तक ही सीमित रक्खो राजन्
सिहासन को चाहिये प्रजा-आनन्द गान !"

हँस पडे विदेह जनक सुनकर अन्तर-पुकार
जिस की ध्वनि पर इतिहास कर रहा था इगित
लोचन मे ले सत्याश्रु विन्दु के दो अगीत !

इतने मे चाँद उगा नभ मे
तारे भी खिले असख्य नीलिमा के तट पर
लहराने लगा समीर लगाये शीतलता के मृदुल पख
सूखे विटपो की नग्न डाल भी सिहर उठी
मिथिला मे कोई फूल नही जो हिले-डुले

हाँ, कोयल कूक उठी सहजा निर्जन वन से
जिसमें न एक पत्ता भी लगा हुआ होगा !

रजनी गंधा की सुरभि आ रही मन्द-मन्द पूरब दिशि से
वह एक वृक्ष जो कूएँ के है निकट लगा
हरियाली का सौन्दर्य समेटे है निज मे
दुर्भिक्ष काल मे अपनी साँसे छोड रहा
यह कह कर—हे प्रिय नृप, जैसे तम मे तारे भी हँसते हैं
अथवा घनघोर घटाओ मे बिजली निज दीप जलाती हैं
मै एकमात्र हूँ सुरभि कि जो इस वेला मे ही फैल रही
प्यासे मानव के मुख से जो पानी गिरता
उससे ही सिंचित हुई एक पतली डाली
जिस पर मेरा अस्तित्व पंख फैलाता है ।

आ गई सुनयना इसी समय
कहती अकाल के लिये यज्ञ करना होगा
भूगर्भ-शास्त्र के पण्डित मिट्टी शोध रहे
आयेंगे शीघ्र यहाँ अपना निर्णय लेकर
हे नाथ ! हाय, ककालो का ही देश हो गई है मिथिला
मैं आज दूर तक निकल गई थी निज रथ पर
देखा मुर्दो का ढेर जहाँ गृद्धो के झुण्ड उतरते थे
देखी केवल हड्डियाँ कही जिनको कुत्ते थे चवा रहे
देखी मरघट की भी मिट्टी खोदते आज जिसको सियार
जाती कुछ दूर और लेकिन
सब अन्न हो गये तुरत शेष

ककालो के समुदायो ने थे घेर लिये ।
सब चाह रहे है महायज्ञ
मिथिला के सारे पण्डित की भी यह इच्छा
हे आर्य ! एक वह दृश्य हाय कितना दारुण
माता अपने पाँचो पुत्रो को लिये गोद मे रोती थी
देखा मैने जाकर गृह मे
थे सभी मृतक !
उस माता को मै लेती आई हूँ सँग-सँग
उसके नयनो मे निर्भर है जो बहता है अविरल गति से
उसके आँचल से मृत्यु अश्रु को चाट रही !

इतने मे सत्तर हाथी आये लिये अन्न
दो पीलवान है घायल लथपथ रक्त स्नात
बोले वे जगल मे दो व्याघ्र छडप आये
लेकिन वे भाग गये जल्दी घायल कर ही
जब एक व्यक्ति ने तुरत मशाल जला डाला ।

इतने में फिर,
ककालो के समुदाय महल तक पहुँच गये
पर तुरत हो गये वापस अति हर्षित होकर
इतिहास अचम्भित हुआ दृश्य यह देख-देख
पूछा समूह से—क्यो वापस जा रहे तुरत
उत्तर मे यही मिला कि भूख मिट गई स्वय !
विस्मय मे वह इतिहास खडा है नृप-सम्मुख ।
बोले महर्षि—तुम रुको रुदन के सपने तक

ग्रह के मंगल सयोग उतरने वाले है।
फिर कहा कि रानी ! करो यज्ञ की तैयारी
मिथिला का सकट दूर करो आतुरता से !

वट वृक्ष एक सुविशाल, सुविस्तृत परती मे है खड़ा व्याप्त
जिसके सम्मुख पीपल का जीर्ण विटप सूखा
सूखी सी एक पोखरी भी
औ' आसपास की लता वल्लरी भी सूखी
श्मशान समान प्रतिध्वनि की करुणा का भय
जिसके आँगन के ऊँचे टीले पर स्थित है—
शिव का मन्दिर अति जीर्ण-शीर्ण प्राचीन एक
दीवार ढह चुकी है, फिर भी घण्टा है लटका हुआ बडा
कोई न पुजारी वहाँ, युगो से शून्य, शब्द से हीन कक्ष
है खम्भ कला से पूर्ण, व्याघ्र अकित गुम्बज
ऊपर त्रिशूल है स्वर्ण जटित
है ताम्र-पत्र से मढ़ा द्वार
है रजत-अँश भी कही कही।

भूगर्भ शास्त्र-पण्डित का रथ रुक गया यही
देखा सबने दो नीलकण्ठ उड कर आये
वरगद की ऊँची डाली से उस जगह जहाँ पर
ध्वस्त जीर्ण मन्दिर के तट पर एक ध्वजा स्थल बना हुआ
जिसके आगे कुछ दूर, सैकडो श्वेत कपोत विचरते है
गाते है घुटुर-घुटुर गाने
कुछ कौए करते काँव-काँव

चिरई, चुनमुन्नी भी उडती है फुर्र-फुर्र
उस एक जीर्ण कूएँ से आती है बगेरियाँ फुदक-फुदक
जिसके आगे बट के लम्बे शत सोर भूमि पर छाये है।

सन्ध्या होने में अभी बहुत है देर, सूर्य पश्चिम मे है
है कितना लम्बा चौर चतुर्दिक क्षेत्रो मे
अति दूर-दूर मे सूखी तरु पक्तियाँ खडी
जिसके समक्ष है नदी बालुका की शोभा से चमक रही
है धुआँ उठ रहा मन्द-मन्द ऊपर केवल श्यामल उज्ज्वल
जल रही चिता कोई, दिन की ढलती सी आकुल वेला मे।

मिथि-राज्य-पुरोहित शतानन्द ने कहा—
"यहाँ का भू विचित्र
युग-युग से शापित है धरती
यह एक मरुस्थल ही केवल
शिव का मन्दिर ही साक्षी है अति ध्वस्त जीर्णता के वय मे
है मार्ग यहाँ के भग्न सभी
केवल उजडा-उजडा जगल
उजडी-उजडी झाडियाँ यहाँ
टूटे-फूटे हत्ते युग से
दिन मे सियार बोलते यहाँ
करते उलूक तरु पर क्रीडा—
बट की तम-छाया से रह-रह
भययुक्त प्रतिध्वनि आती है
रह-रह कर उठते है झोके

होते रहते रव साँय-साँय
कुछ पत्ते भी झर जाते हैं
जब गोलाकार पवन उठ कर शत डालों से टकराता है ।

पण्डित ने देखा इतने मे
वे नीलकण्ठ पछी उडकर फिर बैठ गये
कुछ दूर जहाँ पर मिट्टी कुछ-कुछ रक्त वर्ण
वह एक महा विद्वान कि जिसके चिन्तन मे भी है रहस्य
लक्षित वसुधा की मिट्टी थोडी उठा-उठा
है वार-बार सूँघता उसे
सब आये उसी जगह क्षण में
देखने लगे इस मिट्टी को
जिसकी सुगन्ध मे तीव्र शक्ति
सबने निर्णय कर लिया यज्ञ हो इसी जगह
या इस मिट्टी के आस पास
सब लौट चले अपने रथ पर !

हो रहा यज्ञ शास्त्रानुसार
ऋषियो के मेले लगे यहाँ
वन गया नृपति का महा शिविर
उपयुक्त लकड़ियाँ गिरी आम्र औ' चन्दन को
सुविशाल हवन का कुण्ड वना
कुश के सहस्र आसन आये
कदली, चिरपूत आम्र-पल्लव
गो धृत, अक्षत, मिष्टान्न सभी

काषाय वस्त्र, कम्बल, दीपक
सुमनादिक धूप, कलश तिल भी,
फल-जल सब वैदिक सामग्री ।
मन्त्रध्वनि से गूंजे दिगन्त
शखादि बज उठे बार-बार
है ध्यान मग्न राजर्षि जनक ।
सलग्न यज्ञ मे शतानन्द ।

हो रहा शेष अध्यात्मोत्सव
यज्ञान्त काल में नृप विदेह सम्पूर्ण दिव्यता लिये आज
जोतने लगे भू को हल से
ऊपर मे एक घटा उमडी
भू पर हल से टकराया एक घडा, मिट्टी मे गडा हुआ युग का
फूटा सुपात्र, निकली कन्या छोटी ज्योतित
गरजा वर्षा का प्रथम मेघ
राजर्षि जनक ने उठा लिया उस कन्या को
होठो को चूम लिया सहसा
उज्ज्वल कपोल पर अश्रु-स्नात ममता लेकर
देखने लगे प्रिय मुख-मडल
सौन्दर्यमयी बालिका अचानक उमड उठी निज नेत्रो से
रानी ने प्रथम पिलाया उर का अमिय-दुग्ध,
फिर एक वार हँस कर शिशु ने सम्मान किया
माता के अश्रु उमड आये निज नयनो मे
वक्षस्थल मे आनन्द-सिन्धु भर गया तुरत !

घनघोर घटा उमड़ी असाढ़ के आते ही
पावस की वीणा लगी बिजलियों को छूने
ज्वाला से जब जल उठा गगन
धरती पर करुणा का समुद्र छा गया स्वयं
तब तक अभाव में क्रान्ति शख फूँकती रही
औ' कर्म जलाता रहा अग्नि मानव-मन में
विश्वास प्रार्थना के फ़ूलों को रहा देखता बार-बार
चेतना भूमि कोड़ती रही निज हाथों से
औ' इसी बीच उतरी आशा
जीवन की आभा फैल गई
देखी विदेह ने शक्ति-ज्योति
मानव के वन मे हरियाली छाई नूतन
निकली मिट्टी से भू-कन्या
फूटा प्रशान्त संगीत एक !



षष्ठ सर्ग

रेशमी वस्त्र मे अति गर्वित व्यक्तित्व लपेटे
कौन आ रहा मिथिला मे ?
मोटा शरीर पर छोटा-सा सिर व्यंग्य कर रहा है निज से
श्यामल ललाट पर अहंकार का एक तिलक है लगा हुआ !
वैसी ही उसकी मूँछ पूँछ सी शोभा अपनी बढ़ा रही
औ' नाक !
बचपन में जैसे काट लिया हो छूरी से निष्ठुर अरि ने
दाँते इतनी लम्बी कि युगल आँखे देखती उन्हे प्रतिपल
यदि एक हँसी निकले मुख से तो आकृति सुन्दर बने और
रथ पर बैठा आ रहा मनुज का कुशल रूप !
जिसकी साँसों मे क्रोध ले रहा खर्राटा
निद्रित नयनों के आँगन में हो रही सुरा की मधुर वृष्टि
यदि चतुर सारथी रहे सचेष्ट न उसके प्रति
तो झपकी लेते-लेते ही वह गिरे
और वे तीन दाँत जन गज के सहसा जायँ टूट !

दोपहरी का है समय
उष्णता के मस्तक पर आँधी पखा झेल रही
कुछ पानी भी पी रही घटा से माँग-माँग
आकाश लाल-पीली आँखों से भू को देख रहा प्रतिपल
सारथी रोकना चाह रहा है घोडे को

उस बरगद के सुविशाल विटप की छाया मे
जिसके नीचे कुछ घोडे रुके हुये भी है
दो चार बकरियाँ भी बैठी है एक ओर
कुछ गधे चर रहे हत्तो की हरियाली को
कुत्ते भी एक मरे कौए को नोच रहे उस टीले पर ।

आई आँधी पानी विहीन
हो गया धूल का अन्धकार
उन्मत्त प्रभजन के झोके खेलने लगे तरु पुजो से
सारथी अश्व को रोक रहा
वह व्यग्य प्रधान मनष्य धूल से हुआ विकल
डालियाँ टूटने लगी तुरत उसके सम्मुख
घोडे आपस में लगे जोर से चिल्लाने
पिछले पावो को लगे फेकने इधर-उधर
भय की चिनगारी लगी निकलने प्राणो से
हो गई शेष भीषण आँधी
सारथी हाँकता रहा स्वरथ ।

आई मिथिला की प्रिय नगरो
निर्मल कितनी चिकनी डगरी
सब देख रहे है उस रथ को
वैठा है जिसपर चित्रित नर
उड रहे हँसी के कोलाहल
जिनको सुनता सारथी लिये मुस्कान मधुर
पर वह मानव

क्रोधाकुल दाँते पीस रहा भौहों को ऊपर चढ़ा-चढा
औ' पढता है वह एक पत्र उस मुद्रा मे ही गर्व लिये
पोछता ललाट-पसीने को जिसमे उसकी उष्णता छिपी
वह इधर-उधर भी ताक रहा
पर झेंप रहा उत्तेजित लज्जामय दृग से
फिर भी उसकी उत्सुकता मिथिला की शोभा को देख रही
जैसे नव वधू देखती है घूँघट से अपने प्रिय पति को !

सम्राट जनक को मिला पत्र
वह राजदूत आया है राज-भवन मे भी
जिसको देखते सभासद दल मुस्कान भरी आँखों से ही
वह बैठा है अपने सिर पर अभिमान गृद्ध के पख खोल
वह पत्र एक अंगार कुसुम
साकाश्य नगर पति नृपति सुधन्वा का ही तो
जो माँग रहा है महाजनक से सीता को
शिव के उस महा धनुप को भी जो युग-युग से है रखा हुआ!

हँस रहे विदेह उसे पढ कर
कहते है मुक्षक (राजदूत) से हँस कर फिर
हे दूत ! मनुज की भौतिक प्रभुता लोभपूर्ण
वैभव के जलते अहंकार की ईर्ष्या भी
जब तीर छोडती कभी सत्य के प्राणो पर
वह जल जाती है स्वय प्रतिध्वनि अग्नि लिये
इसलिये कहो जाकर अपने नृप से सत्वर
सीता विदेह की कन्या है

जिसमे मिथिला की सर्व प्रतिष्ठा शोभित है
वह अपनी जिज्ञासा को भस्म करे द्रुत ही
अन्यथा पतन की नाव सिन्धु मे डूबेगी ।
औ' धनुष ?
सुधन्वा इसको कहाँ रखेगा भी
यह तो चरित्र-गृह की, शोभा ज्योतिर्मय है
मै देने वाला कौन जटाधर का धन्वा
यदि आत्म शक्ति है उसे
स्वय माँगे शिव से ।

इतनी ही अपने नृप से कहना बात दूत ।
यदि अधिक कहोगे कुछ भी तो
प्रिय, दूत-प्रतिष्ठा गिर जायेगी आत्मा से
वह दूत जो कि रहता असत्य की छाया मे
वह नीति-पतन का स्रष्टा हो जाता जग मे
नृप भी शका की बदली मे घिर जाता है
जब वह झूठी बातो का विपिन लगाता है
तुम आये हो इस मिथिला मे
साधारण ही सम्मान हुआ
यह धरती सीधी सादी है फल फूल लिये
प्रिय तीरभुक्ति तो धानो का ही एक देश
कौशिकी, गडकी गगा की इच्छित रेखाओ के भीतर ।

वह दूत महल से निकल रहा
दो प्रहरी उसके साथ-साथ ही जाते है

उस राज मार्ग पर एक साँढ़ दौड़ा आया
लग गई तनिक ठोकर सुदूत को अनायास
बेचारा क्षण भर गिरा रहा
उस जगह जहाँ पर गोबर का था एक पिण्ड
जिसमे चादर का एक भाग सट गया स्वयं
कुछ ओह-आह के साथ उठा वह क्रोधाकुल
लज्जा ने सारी व्यथा भुला दी गिरने की
रथ पर सगर्व वह बैठ गया
गिलहरी -मूँछ पर एक हाथ सटता जाता !

सांकाश्य नृपति ने युद्ध घोषणा की सगर्व
मिथिला को घेर लिया उसकी सेनाओ ने
सुविशाल सैन्यदल जमा हो गये जहाँ-तहाँ
शत-शत घोडे हाथी रथ जमा हुये आकर

लेकिन विदेह विश्रान्त, मौन
सोचते—"युद्ध है गर्व अग्नि
जो जल उठती प्रभुता समक्ष
यह मानवता की दुर्बलता का घृणित चित्र
ईर्ष्या के पापो का केवल विस्फोट ध्वंस
यह स्वार्थ भरा अति सुगम मार्ग
जिस पर अन्धी कामना ढालती गर्व-सुरा
उस अहकार के लिये जो कि साम्राज्य भिक्षु !
आदमी नही दानव का ही अति तिमिर रूप है महायुद्ध
मानवता की ध्वनि सुखद शान्ति
कल्याण-घटा मुस्कान-चाँदनी जहाँ व्याप्त

बाँसुरी फूल के हिम कण को करती तानो से स्निग्ध तरल
ऊषा की अमिय किरण जिनको चुपके से स्वय उठा लेती ।
स्वर्णिम प्रभात की छाया मे कर्मोदय की अभिलाषा से
मानव का साम्य हृदय उज्ज्वल शीतल प्रबुद्धि से मिल जाता
जीवन का जीवन से परिचय होता रहता प्रेमाश्रु लिये
जब शान्त सान्ध्य समतानिल दीपो की लौ को
कहता, तुम जलो सुखद सिहरन लेकर विकास प्रतिमा समीप
सम की उदारता की किरणो की भावात्मक सुषमा लेकर
तब धरती सत्य बटोरेगी मानवता की हरियाली से ।

मानवता !
मानव का केवल सौन्दर्य सत्य शिव-गन्ध युक्त
मानवता यदि विभ्राट सिंधु
मानव असख्य लहरें उसकी जो उठ-उठ कर होती विलीन
सम के समस्त विस्तृत पथ पर
नित जन्म-मरण सङ्गीत लिये

लेकिन मनुष्य,
भौतिक प्रमाद मे लोभ सृजन करता जब-जब
अपनी छाया मे लाखो को रखता भूखा
शोषण प्रवृत्ति का जाल फेक
ढँक लेता प्राणो के खग को
उन्मुक्त परो को काट स्वार्थ के पिजरे मे
कर देता है जब बन्द—
अरे, वह मनुज नही, मानव का केवल महाशत्रु
जिसका विनाश मानवता का कर्त्तव्य परम

उद्देश्य, महा उद्देश्य प्रथम !
अध्यात्म न शोपण-स्वप्न
एक उन्मुक्त मनुजता की पुकार
अध्यात्म सृष्टि-साम्योत्कर्ष-संगीत-सत्य का ज्ञान सूक्ष्म
जीवन-रहस्य-वन्दना-पुष्प का सुरभि-चित्र
जो आत्मानन्द-तूलिका से केवल निर्मित
अध्यात्म गगन के लिये नही
इस मिट्टी के हित ही तो है !

यदि गगन धरा पर उतर सके साधन-बल से
तो उतरे यह घन के समान कल्याण लिये !
आकाश !
एक आवरण नील दृग के भ्रम का
अन्यथा शून्य है, महा शून्य पर ज्योतिपूर्ण
जिसका केन्द्रस्थल स्वय सत्य जिसकी छाया भू पर हँसती
जब मानव एकाकार ज्योति को पा लेता मानवता मे
है यही लक्ष्य,
सगीत चरम अभिलाषा का !
औ' भौतिकता ?
जीवन-विधान-कर्त्तव्य-साम्य का ही शरीर
जो साँस-सुरक्षा के हित ही
जिसका सुलक्ष्य सत्योदय की परमात्म-ज्योति
औ' यही खोज अध्यात्म-रूप
जिसकी सुगन्ध मानव-चरित्र की निर्मलता का चिर विकास !"

मिथिला पर क्यो आक्रमण किया गर्वित नृप ने

लेकर सेनाओ का समुद्र
मिथिला मे सेना कहाँ यहाँ !
अगार नही, शीतलता स्वय विचरती है

क्या करूँ आज
है युद्ध एक अपमान-कार्य
ससार कहेगा जनक युद्ध कर रहा हाय,
यह तो विदेह की निन्दा की है बात एक
लेकिन यह कायरता मेरी
तोडूँ कैसे सुरभित स्वतन्त्रता-फूल स्वय ?
सहलूं कैसे अन्यायी का हिसक प्रहार लेकर मनुष्य का कर्म-रूप?
मै स्वय अहिसा का पूजक
पर चाह रहा है अरि हिसा का युद्ध यहाँ
जनगण-रक्षा का एक प्रश्न मेरे सम्मुख,
है खडी परिस्थिति सत्य लिये
मै मौन, युद्ध-स्वीकृति देकर
करना होगा सग्राम मुझे
सेना लेकर
लडना होगा युद्धस्थल मे ले धनुषबाण-तलवार तेज
जन-गण के हित के लिये स्वय !

पर हाय, कहाँ से मै इतनी सेना लाऊँ ?
वह स्वस्थ सुधन्वा महाबली है सेना का
देवता मुझे दे सकते है
चतुरगिणि सैन्य तपस्या से !
मिथिला रक्षा कर सकती है अपने तन की ।

तन की रक्षा मानव का पहला प्रथम कर्म
तब मन की मर्यादा भी शोभा पा सकती
औ' तब आत्मा का चिंतन भी विकसित होता
है तीर मृत्यु के लिए नही, जीवन-रक्षा के लिए यहाँ ।

घनघोर युद्ध प्रारभ हुआ
दुन्दुभी बजी, संग्राम-वाद्य के साथ-साथ
शखध्वनियों से गूँज उठी नभ-दिशा अरुण
शत-शत तलवारे म्यान-म्यान से निकल गईं
तरकस से तीर निकलने लगे सहस्र तुरत
भाले-बर्छो मे रक्त लग गये मानव के
वीरता अश्व पर गरज उठी
रथ पर पौरुष-जय-घोष हुआ
गज से गर्वित गर्जना हुई रण-वाद्यो की
घनघोर युद्ध की घटा अनगिनत विद्युत-खड्ग लिये चमकी
भीषण रव से काँपी धरती
रक्तिम कोलाहल चीख उठा
क्रोधाग्नि-लपट उठती प्रतिपल
जीवन से जीवन टकराते
यौवनोन्माद पी रहा सुरा
चेतना-हीन मानव-प्रबुद्धि अंगार उगलने लगी स्वय
युद्धान्ध पुरुष खा रहे अग्नि-मिष्टान्न विविध
पी रहे रुधिर का उष्ण नीर
वक्षस्थल मे लगते भाले
बिधते गर्दन मे तीव्र तीर ।

सीरध्वज करते है प्रहार
नृप जनक-युद्ध धर्मानुकूल
लेकिन विदेह का अन्तरतर आलोकपूर्ण
युद्धस्थल मे भी दूर रक्त-कोलाहल से
हो रही कर्म की छाया मे यह समर-सृष्टि
हो रही परिस्थिति के आगन मे बाण-वृष्टि
पर सूक्ष्म दृष्टि, शुभ्रता-साधना-अनुरजित ।

जन-सैन्य-हिरण को कटवा कर
वह व्याघ्र सुधन्वा गिरा भूमि पर एक बार
चतुरगिणि सेना जब टूटी उस पर सहसा
वह मृत्यु-लपट से जला, रक्त से हो लथपथ
उस समय जनक ने कहा यान से उतर स्वय—
है युद्ध सृजन के लिये, नही सहार-हेतु
मानवता का यह घृणित स्वप्न
है अस्त्र ध्वस के लिये नही
कल्याण-कल्पना के हित ही ।

उस समय सुधन्वा ने विदेह के चरणो को छू लिया स्वय
उसकी आँखो मे करुणा के दो अश्रु खिले
जिनमे समस्त चेतना छिपाये थी पीडा
वह एक बार मुसका कर आया वहाँ
जहाँ पर जीवन की साँसे हो जाती है विलीन,
आदमी मात्र शव हो जाता है धरती पर ।

साकाश्य नगर के सिंहासन पर बैठ गये नृप जनक-अनुज

जन हर्षित हुए कुशध्वज सा पाकर नरपति
उस दिन से होने लगी प्रेम की वर्षा जलती धरती पर
मानव-मानव का भेद मिट गया स्नेह-घटा के आने से
जिस तरह कि पावस मे सारी हरियाली हो उठती प्रसन्न
जब मेघामृत झरते झर-झर सम-सृष्टि लिये ।



सप्तम सर्ग

पुष्पित-उद्यान-निकुञ्ज-कला-गृह मे बैठी
सीता, श्रुतिकीर्ति बनाती है कल्पना-चित्र
तूलिका छू रही इन्द्रधनुष की वह शोभा
जिसके नीचे कोई पनिहारिन सघन लता की छाया मे
अपनी गगरी को रख कर प्रिय-चिन्ता करती
सुधि-स्नात अश्रु-यूथिका-कली
दोनो कपोल पर दो मीठी थपकियाँ लगा
कहती है उस कोयल से—अब मत कूक यहाँ
अपने वसन्त को ले जा दूर-सुदूर देश !

लेकिन पीछे वन के टेढे-मेढे पथ से
आ रहा कौन विद्युत-गति से
जिसकी परछाई अति लम्बी संध्या की स्वर्णिम वेला मे।
आ रहे जिस समय विहग वृन्द पाँखो पर लेकर उत्सुकता
बाँसो के वन मे खोते पर कर रही प्रतीक्षा प्रिय विहगी
आकुल कठो में योवन को संगीतमयी वाणी लेकर !
यह प्रथम चित्र श्रुतिकीर्ति-रचित;

द्वितीय—
एक ऊँचे पर्वत पर खडी एक नव-वय तरुणी।
जिसका आँचल उड रहा पवन के झोके से

कज्जल बादल का एक गुच्छ विद्युत की पतली डाली पर
दक्षिण कोने से खिला हुआ कुछ कहता है
बक-पंक्ति जहाँ से मुडी जा रही पश्चिम मे
जिसके नीचे सरिता की शुभ्र प्रशस्त धार
लहरो को ऊपर उठा रही हिलकोरो से
औ' एक नाव जिसमे उजला-सा पाल लगा
आ रही इधर डगमग करती।

उस पार एक शिव-मन्दिर है सुविशाल भव्य
गिरि-धवल श्रेणियाँ भी छोटी-छोटी हँसती
लम्बी-लम्बी लहराती-फहराती विटपी
दक्षिणी धरा का रूप दे रही दर्शनीय
जिसके अचल मे द्राविड की सभ्यता खिली
शिव और शक्ति की शोभा मिली हिमालय को
यह चित्र जनक की एक कथा की छाया है
जिसमें उत्तर-दक्षिण के है सगीत छुपे
शिव-विष्णु-कल्पना-मिलन-सत्य की छवि जिसमें
कल्याणमयी गौरी-लक्ष्मी-आत्मोत्सव-ध्वनि!

तीसरा चित्र उर्मिला स्वय लेकर आई
जो चम्पक की प्रिय छाया मे थी बना रही
यह चित्र बाल युवती का है
अरुणिम सुहाग के फूल खिले है प्राणो पर
एकान्त कक्ष मे चुपके दीपक जला रही
पर मृग-नयनो से देख रही है, एक द्वार जो तनिक खुला
कुछ मेघ दिखाई पडते है वातायन से
बैठी है एक कपोती भी उसके सम्मुख

धुँधले प्रकाश मे जिसका उजलापन भी लगता पीत वर्ण
है रिक्त अरुण शय्या जिस पर कर रहा प्रतीक्षा एक हार !

देखने लगीं तीनों बहिने तीनों चित्रों को एक साथ
इतने मे प्रिय माण्डवी वहाँ आकर बैठी
औ' वीणा मे गूंजने लगी संगीत-कला
स्वर ने दो हिरणी को लहरो से खीच लिया
दो गाएँ भी आकर बैठी चरना तज कर
कुछ तोते भी पतली डाली पर बैठ गये
दो-तीन बकरियाँ भी बच्चो के साथ वहाँ आ गईं तुरत:
शीतल समीर के हिलने से कुछ फूल झरे उस वीणा पर
सीता की वेणी पर भी दो पखुड़ी झरीं उजली-पीली
मजरियो की उन्मत्त सुरभि बाँधने लगी मन-प्राणो को
कूकती कोकिला कही-कही रह-रह वन मे
उद्यान वसन्ती फूलों से अति शोभित है
अलि के दल भी उड़ते है कुञ्ज-निकुञ्जों मे ।

वह एक विकल मधुमक्खी आकर बैठ गई
उर्मिला-कर्ण के आसपास
कोमल कपोल पर उसने किंचित गडा दिये दो विकट दन्त
उर्मिला मसलने लगी उँगलियो से पीड़ा
वह चञ्चल-सी हो उठी तनिक
सीता से कहा कि देखो तो कीडे ने काट लिया मुझको !

उसने झट एक हरी पत्ती के रस को उस पर लगा दिया ।
वह एक मृगी जो देख रही थी यह घटना

आ गई उर्मिला से मिलने
चाटने लगी उस पीडा को कोमल जिह्वा से मन्द-मन्द
अपनी आँखो को मूँद-मूँद
उर्मिला उसे गोदी मे ले
चूमने लगी कोमल मुखडा
औ' वह हिरणी सो गई स्नेह के आँचल मे धीरे-धीरे !
पर एक तार वीणा का टूट गया सहसा
वह एक बार उछली, उपवन में भाग गई !
उसके पीछे उसकी सगिनि भी चली गई।

माण्डवी तार जोडने लगी धीरे-धीरे
सीता ने उसका साथ दिया
पर कसने मे फिर एक तार टूटा सहसा
चारो बहने खिलखिला उठी तब एक बार।

माण्डवी बीन को करने लगी प्रणाम तुरत
बोली श्रुतिकीर्ति उठा कर अपना हाथ एक—
"हो पूर्ण कामना देवि ! तुम्हारी वीणा की !"
सीता ने मीठी थपकी से दी एक हँसी
जो अट्टहास मे बदल गई नव नाट्य लिये !
उर्मिला रोकती है अपनी मुस्कान मधुर
पर हर्ष-विहगिनि बैठी है उस होठ-नीड की छाया मे
माण्डवी उडाती है जिसको गम्भीर-भाव के इगित से
पर सीता उस विहगी को पुन पुकार रही
अपनी उत्सुकता की वसन्त-हरियाली पर
लेकिन क्षण-भर में स्वप्न-नीड हो गया रिक्त !

सूचना मिली इतने मे महा जनक ऋषि की
विश्रान्त सरोवर में नौका पर आज एक होगी गोष्ठी
जब एक पहर बीतेगा ऋतु-पति-रजनी का
चन्द्रमा जिस समय ज्योत्स्ना से होगा सत्कृत !

चाँदनी पंख को खोल वसन्ती अवनी पर
नीलिमा-नीड मे बैठ गया उन्मुक्त चन्द्र
झिलमिल जल पर सुन्दर नौका तैरने लगी
सीता अपनी बहनों के सँग बैठी जिस पर
सुन रही जनक की चर्चायें—
जीवन शशि है,
जो स्निग्ध चाँदनी की शीतलता देता है
कहता है मानव-लक्ष्य शान्ति !

जीवन रवि है,
जो ज्वलित रश्मि देता जग को
औ' कहता है मानव का जीवन एक ज्योति
जो स्वर्ण जागरण दे जग को !

जीवन पावस है, जो कि भूमि को देता जल,
कहता है, मानव-लक्ष्य एक कल्याण-वृष्टि
जो जग को हरा-भरा कर दे !

जीवन वसन्त है, जो भू को करता नवीन
कहता है, मानव जीर्ण नही हो नित नूतन
जो परिवर्तन के फूलों से दे सुखद-स्वप्न

जीवन है विरह-मिलन-सगम
जीवन है सुख-दुख का वयार
जीवन प्रभात, सध्या भी है
जीवन है ग्राधी रात ग्रौर उज्ज्वल दिन भी
जीवन समुद्र है, सरिता है, विश्रान्त सरोवर भी तो है,
जीवन है एक कली खिलती,
जीवन है एक फूल झरता,
यह जीवन है मुस्कान एक,
है एक ग्रश्रु,
जीवन बादल है, बिजली भी... ।

उर्मिला पूछने लगी—
"किन्तु, जीवन क्या है इस धरती पर ?"
मुसका कर बोले फिर विदेह—
जीवन सब कुछ है धरती पर
पर जहाँ सत्य है वही मनुज के जीवन का ग्रालोक खडा
जो देता है सौन्दर्य मरण को भी जग मे
कल्याण-सुरभि-सगीत-सृष्टि की छाया मे
उठती है लहर परिस्थिति की जीवन-समुद्र मे जब भीषण
कर्त्तव्य-नाव हिलती-डुलती पल्लव-समान

पर इसी समय चेतना प्राण की कहती है—
यात्री, तुम ग्रागे बढो बुद्धि के बल से ही
चिन्ता न करो तूफानो की ग्रपने पथ पर
निर्भयता में पुरुषार्थ ग्रौर कायरता मे है महा पतन
जीवन का चित्र चरित्र स्वय

साधना-योग सव कुछ चरित्र के लिये यहाँ
आचरण शुभ्र सगीत स्वय मानवता का
कल्पना ज्योति के लिये, तिमिर के लिये नही
रचना असत्य के लिये नही, है सत्य-हेतु
वंदना-प्रार्थना निर्मलता के लिये—
स्वार्थ की सुन्दरता के लिये नही
मानव शरीर के सुख से सदा अपूर्ण रूप
आत्मा के सुख से ही शोभित परिपूर्ण मनुज
सम्पूर्ण मनुज दोनो सुख से ही वनते है !
देवत्व प्राप्त होता है द्वय सुख-संगम पर।

पर ऐसे भी मिलते मनुष्य
जो तन का सुख तजते प्रतिपल
मन को पवित्र करते दुख से
औ' आत्म-हर्ष-रस पीते है !
ऐसे भी होते है मनुष्य
जो सुख-दुख दोनों से सुदूर
रहते है वन की छाया मे एकान्त-मग्न !

लेकिन ऐसे भी मानव है
जिनमे सुख-दुख की छाँह नही
मुस्कान-अश्रु दोनों मे कोई भेद नही
रहते हं जन-मन के वन मे
हँसते है जव मानव हँसता
रोते है जव मानव रोता
पर उनका रुदन-हास आत्मा से दूर, दूर

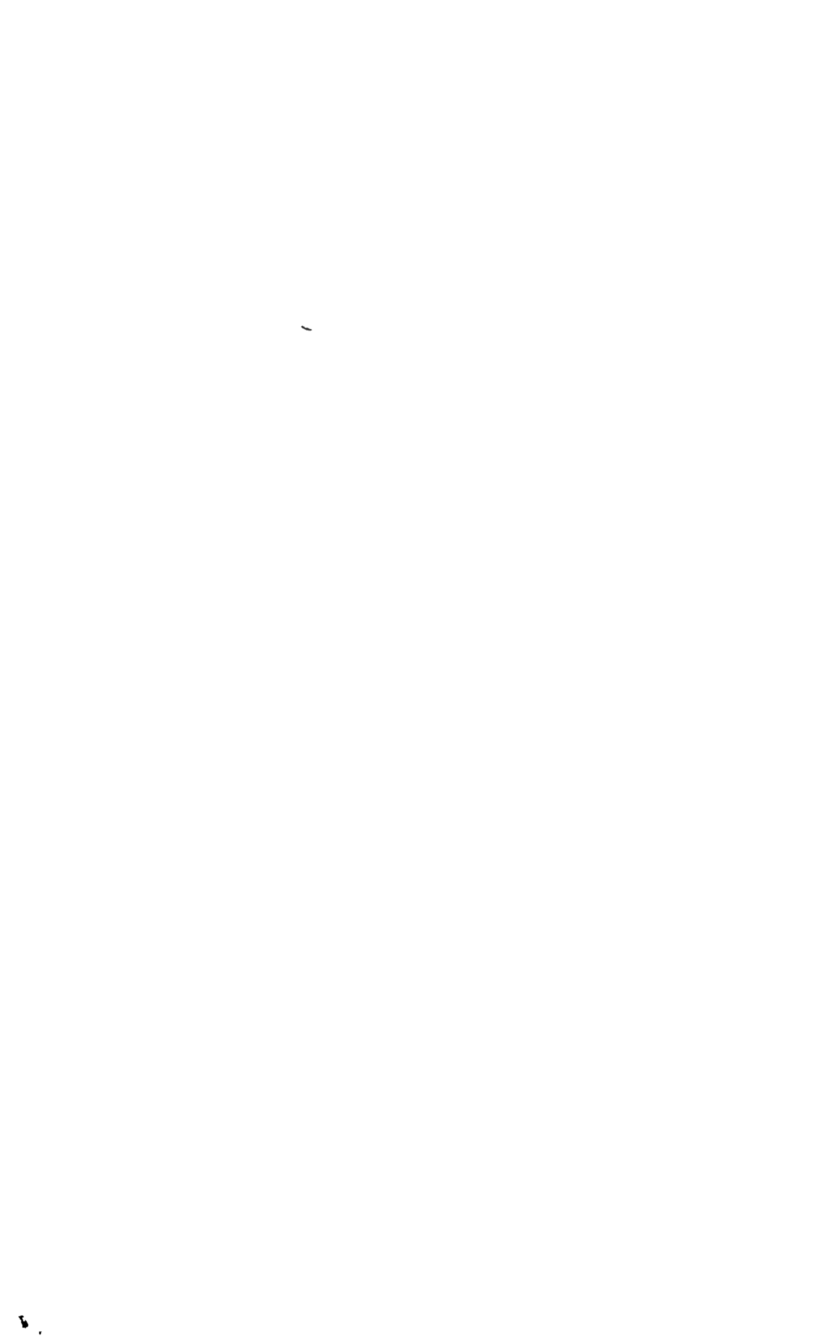
वे मानव है इसलिये कि मानव-गृह मे है
धरती पर है इसलिये मनुज है वे महान
अन्यथा त्याग को देख देव लज्जित होते ।

देवता कौन ?
जो सदा सुखी ।
देवता मनुज बन सकते है समतामय स्वर्ग बसाने से
पर मानव बनना बहुत कठिन है जीवन में
जब कर्म-मर्मका सत्य ज्ञान दे देता है
श्रद्धाकुल जीवन जब पुकारता ज्योति-लक्ष्य को प्राणो से
तब उस पुकार की यात्रा पर बनता मनुष्य
जो किसी देवता से ऊँचा है धरती पर
अवनी भी गर्वित होती है जिसको पाकर
अम्बर भी जिसका गीत सुना करता चुपके
इतिहास चमकता है जिसकी परछाइ से
साहित्य समुन्नत होता है उस मानव से
लेखनी प्रतीक्षा करती है, निकलो मनुष्य,
अम्बर मे नित्य उगा करता है एक सूर्य
धरती को भी चाहिये मनुज का सूर्य-रूप ।
निकलो चरित्र की किरण इसी मिट्टी से ही
दो महाकाव्य का दान किसी जीवित कवि को
देवता पढे जिसको प्रकाश की छाया मे
सीखे धरती से आत्मज्ञान मानवता का
समझे मिट्टी की भाषा मे भी सूक्ष्म ज्योति
उतरे धरती पर स्वर्ग सत्य अपनाने को ।

तट पर से नम्र सुनयना स्वयं पुकार रही
नाविक नौका को लिये आ रहा मन्द-मन्द
सीता के प्राणो मे उठते है ज्योति-ज्वार
उर्मिला हृदय की लहरों मे तैरती स्वयं
चारों बहिने देखती पिता का मुखमण्डल
जो चन्द्र-किरण की छाया मे अति भव्य-दिव्य
औ' जनक स्वयं
सीता के श्यामल बाल छू रहे है चुपके
कह रहे सभी से—"समझी मेरी बात आज ?"
सीता नयनों से बोल रही—"मै समझ गई"
उर्मिला कह रही मन-ही-मन—मैं समझ नहीं पाई सब कुछ
इतने में तरणी तट से टकराई सहसा
रानी सबके सँग चली जा रही संग-संग
कोकिला एक कूकी वसन्त की रजनी में
उपवन के पथ पर स्निग्ध चाँदनी बिछी हुई
शीतल समीर के सँग सुरभि विचरण करती
भीगे है सारे पुष्प-गुच्छ शीतल कण से
सब चले गये उज्ज्वल गृह मे धीरे-धीरे !



अष्टम सर्ग



प्रिय नील गगन-नव शुभ्र शरद के नवल चरण
उज्ज्वल घन-घुँघरू-बाँध सरोवर-दर्पण मे करते विचरण
शत-शत कोमल अधखुले कमल शोभा-सरोजिनी से खुल-खिल
कह रहे कथाएँ पुरइन के पल्लव-वितान की छाया मे
आनन्द-अश्रु है विखर रहे पत्राङ्क-नीलिमा-स्वप्नो पर
ओसाच्छादित चारों तट पर मुस्काते हिलते हरसिगार
जिनके पुष्पित सगीत अवनि पर विखरे है उजले-पीले
जिनकी मादकता-सुरभि-वीथि पर खजन-चंचलता उडती
विस्तृत हरियाली पर सुमनाकुल प्रहरी-तरु अति हर्षाकुल
उडती कलापिनी इधर-उधर रेशमी पंख मे ले झोके
उडते उजले-उजले सारस पाँखों की उज्ज्वलता विखेर
है शान्त सरोवर मे मरालिका करती निज प्रतिविम्व-दान
शीतल समीर से हिल जाती चित्रित निर्मल जल की शोभा
यह देख हस डुवकियाँ लगाते वार-वार।

वज रही वाँसुरी दूर विमल उर्मिला-सुकोमलतर कर में
माण्डवी वीन को जगा रही मत्रानुरक्त भैरवी लिये
कोई मृदग भी वजा रहा धीरे-धीरे, धीरे-धीरे !

प्राची के आम्र निकुजो के वातायन से
वालारुण झाँक रहा मगल किरणो की मधुर पुकार लिये
चह-चहा रहीं नन्ही चिडियाँ नूतन प्रभात की छाया मे
धन-खेतो में उठ रही लहर पर लहर चपल हिलकोरो से

कन्धो पर लेकर हल बैलो के साथ जा रहे हलवाहे
चरवाहे शत-शत गायो के सग चले जा रहे इधर-उधर
जा रही टोकरी लिये कृषक की वधुएँ भी पगडण्डी पर
महुआ के नीचे एक बालिका सरस प्रभाती जगा रही
कटहल-जामुन-अमरूद-आम-सीसम वन मे भी मधु गुंजन ।

प्रिय तीर भुक्ति का केन्द्रस्थल
यह मिथिला है
सुन्दरता की नगरी विशाल
भव्यता, मधुरता का सगम
साहित्य-कला-सगीत त्रिवेणी का स्वरूप
जिसके अम्बर से झरती है कवितावलियाँ
खिलते जिसके भू पर नित कोमल काव्य-कुसुम
जिसकी मिट्टी पर स्वय प्रकृति की कला व्याप्त
जिसकी साँसो से ही सगीत निकलते है।

यह है विदेह का देश
जहाँ जीवन को भी जीवन मिलता
करते शुक-पिक भी बात देव-भाषा मे ही ।

आती सीता
नूपुर शोभित
स्वच्छन्द चरण-रव फूट रहे है मन्द-मन्द
आ रही जनक-तनया ज्योतित
कर मे पूजा का थाल लिये
धीरे-धीरे

है खुले केश उर्मिल श्यामल

आई विदेह की मुक्त किरण,
कितना उज्ज्वल शशि-मुख मण्डल
यह स्वय प्रकृति-सौन्दर्य-सृष्टि
करुणा की निर्मलता प्रसन्न
कितना पवित्र सुकुमार-काय
सुन्दरता का साकार सृजन

जा रही उधर
गिरिजा-मन्दिर की ओर वहीं
पीपल बरगद से तनिक दूर
उस शुभ्र सरोवर के तट पर
मल्लिका, वकुल, केतकी और चम्पक तरु है जिस ओर लगे
जिनके उत्तर में है अशोक दक्षिण मे दीर्घ सिरीस वृक्ष

मन्दिर के निकट गई सीता
नूपुर-गुँजित मृदु चरण पार करते सीढी
वह पहुँच गई ऊपर जिसके
सम्मुख मन्दिर का मुख्य द्वार
वह ध्यान मग्न, अर्चनाधीन, प्रार्थना-वन्दना-छाया मे
पुलकित सीता-पार्वती-लीन !

वह आई
शिव के धनुष उठा कर लगी लीपने धरती को
देखा माता ने अकस्मात्
आश्चर्य हुआ

दौडी विदेह के यहाँ तुरत
बोली, सीता ने स्वय धनुष को उठा लिया
हे आर्य ! चलो तुम भी देखो !
देखा विदेह ने सीता को,
सीता ने देखा नही उन्हे
वह कर्म-लीन गोबर-मिट्टी से लीप रही है वसुधा को
वे लौट चले !

बैठे है पर्ण-कुटी में जनक अकेले ही
कुछ ऋषि-महर्षि आये थे लेने ज्ञान-दान
वे चले गये शिक्षा ले कर निज-निज गृह मे ।
राज्यातिथिवासर के प्रागण भर जाते है वर्षा ऋतु मे
अति दूर-दूर से आते है आगन्तुकगण
लेने जीवन-दर्शन की अमृतमयी वाणी
सीता ही तो सत्कार किया करती सबका
अपनी प्रिय बहनो के सँग-सँग ।

एकाकी नृप बैठे है पछी के समान
आकाक्षा का वह एक प्रश्न कहता मन से—
"सीता ने शिव-धनु उठा लिया
वह किरणमयी कितनी सशक्त कोमल कलिका
यौवनोन्मुखी सयमित स्वप्न मेरे सम्मुख
मै किस विराट की छाया मे मगल बन्धन की सृष्टि करूँ
जो शिव का धनुप चढा ले कम-से-कम कर से !"
यह चिन्तन एक प्रतिज्ञा मे परिवर्तित हो

अति व्याप्त हो गया आर्यभूमि में सभी ओर
कोई न उठा भी सका धनुष को निज बल से
इतना सशक्त गम्भीर लौह-पाषाण-धातु !

उस दिन चुपके
हर्षाकुल आँसू बिखर गये लाखों दृग से
जीवन-प्रसन्नता प्रकट हुई अभिलाषा पर
वह जनक-प्रतिज्ञा पूर्ण हुई रघुवंशी से
विभ्राट राम ऋषि कौशिक के आशीष लिये

आये सम्मुख
औ' तोड दिया शिव-धनुष विष्णु-कर से अपने
जय-घोष हुआ जीवन-जय का
मधुमयी सुनयना सिहर उठी हर्षित स्वर से
साकेत-सत्य में जनक-शक्ति मिल गई स्वयं
अति दीप्त राम के संग निर्मला सीता की रश्मियाँ मिली।

आये दशरथ सम्राट् सूचना पाकर ही
देखा विदेह को, मिथिला को, योगात्मक एक भिखारी को
जिसके सुराज्य मे एक भिक्षु भी नही
सर्व जन शिक्षित, दीक्षित, कलापूर्ण
सादगी यहाँ को निर्मलता
जीवन का स्तर समता मे परिवर्तित मुखरित
सब मृदुभाषी,
चारित्रिक शोभा से सुरभित
मुस्कान भरी नारी-प्रतिमा

उल्लसित सभी के मुख-मडल
प्रासाद-निवासी भी झोपडियो के प्रेमी
प्रति गृह के सम्मुख विटप-वृक्ष
वन-वल्लरियो की सुषमाये
श्रमपूर्ण स्वस्थ जन गण उन्नत
सस्कृति-शोभित आवरण स्वच्छ
गायो-बैलो से पूर्ण राज्य
है पर्ण-कुटी भी कलापूर्ण
सगीत-स्नात है द्वार-द्वार
खेतो मे वैभव-लता-पुज
साहित्यिक-चर्चा ठौर-ठौर
अध्यात्म-वेद की बाते भी
सामाजिकता की भी उमग ।

औ' प्रिय विदेह ?
जीवन-दर्शन के महाग्रन्थ
अध्यात्म-चिन्तना के प्रतीक
योगानुरक्त अति मानव ही
शुद्धातिशुद्ध मन चारित्रिक
नयनो मे निर्मलता अशेष
राजर्षि महायोगी प्रफुल्ल
धरती पर रह कर भी धरती से दूर-दूर
धरती पर इसीलिये कि भूमि पर ही जीवन
मिट्टी का चिर सम्बन्ध मनुजता के मन से
यह कर्म-नीड
कर्त्तव्य-कुटी

मानव-जीवन का यह पोषक
औ' मरण-मोहमय ममता की अन्तिम माता
जो शव को भी देती शरणागत की छाया !
मानव की कथा उमड़ती है जिसके मन से
इतिहास जहाँ से लेता भाषा का प्रदीप
वह मिट्टी है
मानव की जीवित जननी है।

आते मनुष्य, जाते मनुष्य
नित जीवन-मरण आवरण में लुक कर छुप कर
पर यह धरती चिर स्वप्न लिये
मानवता का कल्याण लिये
कितनी अचला
फल-फूल लिये, रवि-धूल लिये
निर्झर-अरण्य-वन-कूल लिये
पर्वत, समुद्र की शक्ति लिये
सम्पूर्ण मनुज-अनुरक्ति लिये
अब भी वैसी !
ऋतुओं का आना-जाना भी अब भी वैसा का ही वैसा !
घनघोर घटा
चचल बिजली
सौन्दर्य-कली
सुरभित वसन्त की मोहकता
प्रिय स्निग्ध शरद की निर्मलता की रूप-विभा
सब-कुछ मिट्टी पर ही शोभित
षट् ऋतु ही तो जीवन-दर्शन

उल्लास कभी
बरसात कभी
नगी डालो का क्रन्दन भी
सुख-फूल और दुख-शूल यहाँ
ये दोनो सपने साथ-साथ
बाहर का सुख कर्त्तव्य-कर्म का प्रकट रूप
भीतर का सुख आत्मानुभूति-आलोक स्वय
ऋषि जनक स्वय सर्वाङ्ग सुखी
आनन्द स्वय
परमात्म ज्ञान-गिरि के समक्ष ।

ढूँढेगा जब इतिहास पृष्ठ को उलट-पुलट
है कौन महा मानव, महर्षि सम्राट दिव्य
उसके सम्मुख
होगे विदेह
केवल विदेह का जीवन ही कर्मोन्मुखी—
योगानुरक्त निर्भीक आत्म का शुभ्र सत्य
सम्राट कर्म से ही होता है महा मनुज
उसकी महानता नही स्वर्ण वैभव मे ही
आत्मिक चरित्र की ही महानता श्रेष्ठ सत्य
इसलिये जनक राजर्षि महा
अति मानव भी
धरती के उज्ज्वलतम सुचित्र ।
सीता उनकी तनया—
मेरे उन्नत सुपुत्र की ज्योति-वधू

मिथिला की सर्वोत्तम शोभा
उर्मिला स्वयं कितनी सुन्दर
माण्डवी स्वय कितनी निर्मल
मै धन्य आज कितना जग मे।
मै नही चाहता मिथिला का वैभव भी लूँ
यह तो जन गण का वैभव है
मिल गई मुझे अपने आत्मज के लिये वधू इतनी सुन्दर,
इतनी सुशील, इतनी शिक्षित.
फिर वैभव क्या ?
यह सुन्दरता-अपमान स्वय
जव मिली चाँदनी की शोभा
तव सोने के ये दीप व्यर्थ से लगते है
चाँदनी देख कर व्यंग्य करेगी जीवन में !

सीता जाती ससुराल, अश्रु भी रोते हैं
ओ प्रिय विदेह ! तुम भी रोते हो बिछुड़न से ?
रो लो विदेह ! ये आँसू ही मानवता को बतलायेंगे
तुम हो मनुष्य
तुम मे भी जीवन-ममता है
वचपन के वाद न रोये थे तुम कभी कही
हं स्मरण, कभी भी नही जनक !
लेकिन जव से जानकी मिली
तुम एक मनुज हो योगी मे
रो लो जी भर
कन्या का मोह वड़ा मीठा होता नरेश,

उल्लास कभी
बरसात कभी
नगी डालो का क्रन्दन भी
सुख-फूल और दुख-शूल यहाँ
ये दोनो सपने साथ-साथ
बाहर का सुख कर्त्तव्य-कर्म का प्रकट रूप
भीतर का सुख आत्मानुभूति-आलोक स्वय
ऋषि जनक स्वय सर्वाङ्ग सुखी
आनन्द स्वय
परमात्म ज्ञान-गिरि के समक्ष ।

ढूँढेगा जब इतिहास पृष्ठ को उलट-पुलट
है कौन महा मानव, महर्षि सम्राट दिव्य
उसके सम्मुख
होगे विदेह
केवल विदेह का जीवन ही कर्मोन्मुखी—
योगानुरक्त निर्भीक आत्म का शुभ्र सत्य
सम्राट कर्म से ही होता है महा मनुज
उसकी महानता नही स्वर्ण वैभव मे ही
आत्मिक चरित्र की ही महानता श्रेष्ठ सत्य
इसलिये जनक राजर्षि महा
अति मानव भी
धरती के उज्ज्वलतम सुचित्र ।
सीता उनकी तनया—
मेरे उन्नत सुपुत्र की ज्योति-वधू

मिथिला की सर्वोत्तम शोभा
उर्मिला स्वय कितनी सुन्दर
माण्डवी स्वय कितनी निर्मल
मै धन्य आज कितना जग मे।
मे नही चाहता मिथिला का वैभव भी लूँ
यह तो जन गण का वैभव है
मिल गई मुझे अपने आत्मज के लिये वधू इतनी सुन्दर,
इतनी सुशील, इतनी शिक्षित.
फिर वैभव क्या ?
यह सुन्दरता-अपमान स्वय
जव मिली चाँदनी की शोभा
तव सोने के ये दीप व्यर्थ से लगते है
चाँदनी देख कर व्यग्य करेगी जीवन मे !

सीता जाती ससुराल, अश्रु भी रोते है
ओ प्रिय विदेह ! तुम भी रोते हो बिछुड़न से ?
रो लो विदेह ! ये आँसू ही मानवता को बतलायेंगे
तुम हो मनुष्य
तुम मे भी जीवन-ममता है
वचपन के वाद न रोये थे तुम कभी कही
है स्मरण, कभी भी नही जनक !
लेकिन जव से जानकी मिली
तुम एक मनुज हो योगी मे
रो लो जी भर
कन्या का मोह वड़ा मीठा होता नरेश,

आदमी पालता है दुलार के आँसू से निज कन्या को
पर जब वह चलने लगती है पति के गृह मे
पाषाण पिघल कर निर्झरिणी बन जाता है ।
बेचारा पिता देखता ही रह जाता है
उस भोली-भाली कन्या को जिसको उसने पाला-पोसा

इतना मत रोओ ओ विदेह ।
कुछ आँसू तो रहने दो अपनी आँखो मे
तुम हो महर्षि ।
साधना कलकित नही करो निज आँसू से
ओ पिता । बस करो रहने दो दृग मे आँसू
साकेत तुम्हारी दुर्बलता को देख रहा
रानी को रोने दो जी भर वह तो माँ है ।
माँ तो करुणा से ही बनती है जीवन मे
केवल उजले आँसू का हार पहनती है
रोने दो विकल सुनयना को हे प्रिय विदेह,
जाओ सीता के माथे पर निज कर रख कर
अपना अन्तिम आशीष उसे दो मिथिला का,
उसने अति सेवा की है अपने बचपन से,
आँखो का अन्तिम प्यार उसे दे दो नरेश ।

बेटी का मोह विछोह काल मे ही होता
जब आँसू की घनघोर घटाये घिरती है
जब प्राण काँप उठते है निर्मल करुणा से
मिथिला सूनी हो रही आज
सीता के कोकिल-गीत नही गुजित होगे, अब पुन यहाँ

ऋषियों की सेवा कौन करेगी अब इतनी
जा रहीं सभी पुत्री घर से
उर्मिला, माण्डवी...सभी जा रही मिथिला से !!

रोती-रोती सीता आई
गिर पड़ी पिता के चरणों पर
औ' पिता ?
नयन में अश्रु नहीं अब रहे शेष
जो थे सब तो झर गये पूर्व
फिर भी नयनों मे करुणा लहराती आई
पुत्री की मर्म भरी आँखे देखने लगी अकुलाहट को
गालो पर ढुलके आँसू कहते है नृप से—
सीता के सब अपराध क्षमा कर दो नरेन्द्र !
इसने उस दिन अनजान अपरिचित भावों से
आज्ञा विदेह की लिये बिना ही धीरे से
प्रिय शिव का धनुष उठाया था।
हे पिता, क्षमा कर दो सीता का यह महान अपराध आज
जिसके कारण ही यह मिथिला को छोड़ रही !

मिथिला की ज्योति भरी शोभा जा रही दूर साकेत-पुरी
रानी वातायन से डोली को झाँक रही
दृग से आँसू झरते झर-झर
जिनको प्रसन्नता गूंथ रही प्रिय स्नेह डोर में फूल-सदृश !



नवम सर्ग

जिस मिट्टी को मिला जगत मे
एक भरत-सा भाई
वह पवित्र है देश, स्नेह की
जहाँ अरुणिमा छाई !

राज-मुकुट से जहाँ श्रेष्ठ है
प्रेम, वही मानवता
जहाँ बुद्धि श्रद्धा-शोभित
है, पावन वही सफलता !

आँसू नही दृगो मे जिसके
वह मनुष्य पाषाणी
आग वीरता-विजय किन्तु
नम्रता नयन का पानी !

अधिकारी है राम राज्य के
मै क्यो इसे चलाऊँ
सोच रहे है भरत, सत्य मे
कैसे आग लगाऊँ !

भाई वह जो भ्रातृ भाव का
अन्तर दीप जलाये
सेवा के करुणा-जल से
जीवन को सरस बनाये

अनुज त्याग की मूर्ति,
शीलता की पवित्र शीतलता
माता का साकार प्रेम,
जिसमे समस्त निर्मलता।

ओ इतिहास, समय के गृह में
भरत आज अकुलाता
लोभासन पर बैठ प्रेम का
सत्य विशुभ्र छिपाता।

स्वार्थ कपट के दुराचार से
अच्छा है मर जाना
घोर पाप है जीवन मे
अन्याय-सुधा अपनाना।

वनवासी हो राम, भरत हो
वैभव का अधिकारी।
झुका आर्य-आदर्श, जगा दूँ
हे वसिष्ठ चिनगारी!

जाना होगा मुझे राम के
चरणो को अपनाने
जाना होगा मुझे बन्धु को
वन से वापस लाने

साकेत भरत के आँसू से धुल गया स्वय
सारा कोलाहल मिटा, प्रेम की वाणी से

कैकेयी हुई प्रकम्पित सत्य-अनल भय से
मातृत्व-चेतना मिली भरत की भाषा से
ईर्ष्याकुल मां ने समझ लिया यह त्याग-मर्म
वेदना-भूमि पर गिरी झुलस कर एक बार
वरदान-पुष्प की पखडियाँ हैं झुलस गई
अभिशाप-गंध निकली प्राणों की साँसो से
औ' फैल गई विद्रोही जन-मन-आँगन तक
कैकेयी की आँखो से आँसू निकल रहे
हव चीख रही कर्मो की क्रान्ति-पुकारो मे
चाहती आज विष-पान किन्तु
वह क्षमा-अश्रु मे जाग रहो है ज्ञान लिये !

सम्पूर्ण अयोध्या है उदास जैसे अकाल हो पृथ्वी पर
चल पडे भरत, रानियाँ चली, शत्रुघ्न चले
चल पडे महान वसिष्ठ, सैन्य, पुरजन अमात्य उस ओर जहाँ
वनवासी राम विचरते है सोता लक्ष्मण के साथ-साथ
वरदान और आज्ञा के अनुशासन लेकर ।

धो रहे धरा को भरत-अश्रु
चरणो में काँटे चुभे, फफोले पड़े, जले सब अंग-अंग
पर भरत-बन्धु सुधि-स्नात चले जाते पथ पर
विस्मय का वातावरण शान्त, फिर भी अशान्त
सतोष, व्यंग्य, श्रद्धा जाती है सग-सग ।

मिथिला को मिला भरत-श्रद्धा का समाचार
उस दिन विदेह के नयनों मे खिल गये भरत

मुस्कान एक निकली अधरो से किरणमयी
मानवता ने सकेत किया अतरतर मे—
"जाओ विदेह तुम भी वन मे
यह कठिन समस्या-दुर्ग-द्वार खोलना पडेगा तुम्हे वहाँ !"
औ' उसी समय अकुलाती हुई सुनयना ने
कह दिया—"नाथ ! जाओ तुम भी ।"
हो गया समस्त प्रबध तुरत
कौशिक भी उद्यत हुये वहाँ तक चलने को ।

आशा की लाली फैल गई जब प्राची मे
निकले विदेह शिव गध-युक्त अरुणाई मे
रानी भी आई उत्सुकता से भरी हुई
देखा विदेह ने कम से कम शत मानव चलने को प्रस्तुत
गूँजी शखध्वनि तीन बार यात्रा-वेला
भूरे, काले, उजले घोडे हिनहिना उठे
सारथियो ने अश्वो को द्रुत पुचकार दिया
बैठे कौशिक, बैठे विदेह, रानी भी बैठ गई रथ पर
धीरे-धीरे सब बैठ गये निज घोडे पर
बढ चले चरण दक्षिण दिशि मे
दस रथ जाते सबल लेकर ।

लम्बी लम्बी निज साँसो को छोडते हुए आश्चर्य-चकित
उस राज मार्ग पर लोग कर रहे है चर्चा—
सीता भी वन में चली गई
लक्ष्मण भी साथ गये वन म

यदि भरत और शत्रुघ्न अवध मे रहते तो
वे भी चल देते वन मे ही !
सचमुच यह घोर अनर्थ हुआ श्रीराम हुए अधिकारहीन
ऐसी भी माता होती है इस धरती पर
कितने पवित्र है राम अहा !
कितना आकर्षण है उनकी मृदु वाणी मे
है शक्ति और कोमलता दोनो घुली-मिली
कहते थे सब वह शक्तिमान रावण ही तोड़ेगा धनु को
पर स्वयं राम ने तोड़ दिया उसको हँसते
सीता भी गौरवमयी हुई पति को पाकर
यह सब विदेह का ही तप है
पर हाय राम का वन जाना सीता के लिये दुखद कितना
बेचारी प्रिय उर्मिला अकेली ही होगी
उसको तो महा वियोग मिला !
पर जनक जा रहे, राम लौट आयेगे ही
बेचारे दशरथ भी परलोक सिधार गये
कैसी निर्मम वह माता है !

धरती पर शिशिर पुकार उठी—आओ वसन्त !
आया वसन्त, लेकर अनन्त सौन्दर्य-पुष्प
पल्लव-वसना नगी डाली मे खिले रूप
रस और गन्ध से व्याप्त हो गया दिग्दिगन्त
काकली उडाने लगी गीत की मधुर धूल
नित झूल-झूल कर सभी फूल कहते पथिकों से—
ओ मनुष्य ! पी लो तुम भी यह सुरभि-सुरा

फिर एक वर्ष के बाद मिलेगा यह जीवन
साँसो की हवा बहुत तेजी से चलती है
यह काल-स्रोत बहता प्रतिपल
क्या पता कहाँ तुम जाओगे बह कर गति मे
जीवन की नौका कहाँ लगे, कुछ पता नही।

आओ देखो
इन कलियो की सुन्दरता को मोहकता को
सो जाओ सुषमा पर क्षण भर
हरियाली प्यास मिटा देती है अन्तर की
इन खुली हवाओ मे छोडो निज गर्म साँस
जलते-जलते थक जाओगे
सौरभ का जल हर लेती है सारी थकान
ओ पुरुष! भागते फिरते हो हरियाली से!

रुक कर देखो,
ये नई डाल,
नूतन पल्लव,
साम्राज्य नया सुन्दरता का
गेहूँ-जौ पर ये ओस-गुच्छ
नीले-पीले ये मटर-फूल
मजरी आम की देखी है तुमने, मनुष्य!
भौंरो का दल भी देखा है!
उड्डीन तितलियाँ देखी है चचल कोमल!

मधुमक्खी को भी देखा है तुमने दृग से

छूने मे कैसी लगती है चाँदनी तुम्हें ?
तुमने नदियों को देखा है ?
उन झीलो को जिनमें हँसते है नील कमल ?
उस निर्झर को जो ऊँचे पर्वत से झरता
जिसके तट पर पनिहारिन आती लिये कलश--
झाँकती रूप को पानी मे
हँस उठती है निर्जनता मे अँगराती-सी
दोनो हाथो को ऊपर उठा मचलती है
जब मादकता के उर-बन्धन खुल जाते है
जब गा उठती वह गीत, सुना है तुमने वह ?

उसके आँचल को गिरते तुमने देखा है ?
केशों को खुलते तो तुमने देखा होगा
नयनो की भाषा तो तुमने समझी होगी !

मानव ! तुम रुके नही क्षण भर
जाओ मनुष्य तुम जलते ही रह जाओगे
नगरों को ओर चले जाते हो तुम युग से
पछताओगे ओ बुद्धिमान !

तुम प्रकृति छोड़ कर मत जाओ--तुम मत जाओ
ढूँढो वसन्त की प्रिय शोभा उपवन-वन मे
कम-से-कम रहो गाँव मे ही
अमरूद, आम, लीची, अनार, केला, कटहल
सब साग लगाओ आँगन में
आयेंगे शुक-पिक दोनो ही

होगे प्रसन्न शिशु देख-देख
नव वधू सुनेगी मदिर गीत
चॉदनी रात मे झूम-झूम तरु गायेंगे !

फूलो ने देखा, चले जा रहे है विदेह अपने रथ पर
वे देख रहे हरियाली को पुष्पित वसन्त की डाली को !

कौशिकी, गंडकी, गगा को जब पार कर गये नृप विदेह
डाला पडाव उस मगध क्षेत्र से तनिक दूर
जिस जगह कोल-भीलो ने अति सम्मान किया
फल-फूल-शुभ्र जल लेकर निज श्रद्धाँजलि में।
वनवासी की सेवा से जनक विमुग्ध हुये
वन की भाषा ने योगी को झकार-किरण से बाँध लिया।

वह एक दृश्य कितना मनमोहक कलापूर्ण
सहसा ढन-ढन बज उठा ढोल
जल उठी अग्नि सब ओर तुरत
निकले शत-शत वन के मानव ले नृत्य भाव
द्रिम-द्रिम मृदग ध्वनि गूँज उठी
बाँसुरियो की ताने निकली
मुरली की मधुर पुकार हुई
सब एक वृत्त मे गुँथे तुरत
केवल दो नर-नारी निमग्न केन्द्रस्थल मे
देखते जनक वन-प्राणोत्सव
कौशिक ऋपि भी होते प्रफुल्ल
औ' विमल सुनयना तो मन से मुसकाती है

कह रहा नृत्य-सगीत स्वय---
स्वागत हे मिथिलापति महान,
वन-फूलों से, निर्झर-जल से
वन के काले-काले मनुष्य के भावो से
सभ्यता-विहीन सहज स्वर से
पर्वत-घाटी की भाषा से स्वागत महर्षि !
जगल पहाड़ से घिरे हुये
हम पशुता मे हैं लीन मनुज
काली छाया मे केवल हम करते शिकार
खाते हैं मृग के मांस और मारते सिंह को भी अक्सर
खाना, गाना, नाचना हमारा काम यहाँ !

निद्रा की आँखे खुली विहग की बोली से
सुरभित प्रभात मे पन्थी पथ पर चले पुनः
शत कोल-भील ने बहुत दूर तक साथ दिया
चलते-चलते फिर एक दिवस
पहुँचे विदेह गंगा, यमुना औ' सरस्वती के संगम पर
ऋषि भरद्वाज अति मुदित हुये मन-प्राणों से
अभिनन्दित हुये विदेह स्निग्ध गंगा जल से
निशि की निर्मलता मे दर्शन-चिन्तना हुई
विश्रान्त शयन की वेला मे

शकाकुल कौशिक मुनि ने सहसा प्रश्न किया---
हे भरद्वाज ! ऋषि के आश्रम मे मदिर मांस से भी स्वागत
साकेत-सैन्य क्या अन्न नही खा सकते थे ?

करुणाकुल जन-मन का स्वागत अप्सरियो से ?
इस ऋद्धि-सिद्धि के लिये घोर आश्चर्य मुझे !
सन्ध्या मे ही यह ज्ञात हो गया मुझे यहाँ
समयोपयुक्त सब ठीक हुआ !
मै समझ रहा था स्वय विदेह इसे कहते
पर मौन रहे वे मन-ही-मन
प्रिय भरत अश्रुमय था केवल
रानियाँ सभी थी स्वय विकल
इस घोर विकलता मे भी उत्तेजित स्वागत ?
ऋषि भरद्वाज ने उत्तर कुछ भी दिया नही
पर मन-ही मन बोले महर्षि
समयोपयुक्त सब ठीक हुआ

यह चित्रकूट का हरित मर्मरित वन-प्रागण
शोभित वसन्त से रम्य तटी, तलहटी-स्वर्ग
गिरि-धवल-श्रेणियाँ नवल सौम्यता से सुरभित
निर्झर-कलरव-सगीत चतुर्दिक कुज-व्याप्त
अति स्निग्ध शान्ति का वातावरण प्रशान्त, शान्त
है स्फटिक शिला पर जल हिलोर-गुजित, मुखरित
कूजित पँछी के विविध बोल विटपो की हिलती डालो पर
ऊँची-नीची पगडण्डी सर्पाकार भव्यता से पूरित !

ऋषियो का ससद बैठा है गम्भीर प्रश्न की छाया मे
न्यायासन पर आरूढ महर्षि वसिष्ठ स्वय

मस्तिष्क ज्ञान का दीप जलाता बार-बार
औ' हृदय, मोह ममता की उजियाली देता

अध्यक्ष पूछने लगे प्रथम—"हे मर्यादित कुलश्रेष्ठ राम !
तुम कहो सत्य के सम्मुख ही
ससद का निर्णय तुम्हे मान्य होगा कि नही ?"
"हे ऋषि महान ! आदेश लिये मै आया हूँ इस जंगल मे
आज्ञा का पालन करता हूँ मन-प्राणों से
मै देख रहा सैकडो महर्षि पधारे है
आये है पुर-जन, सैनिक भी
आये है सब विद्वान अयोध्या से वन में,
आये है मेरे भरत स्वयं जो मेरे प्राणों से प्रिय है
कितना है गर्व मुझे अपने इस भाई पर, कैसे कह दूँ
है भरत प्रेम-देवता एक
मातायें भी सब आई है, सब आये है मेरे सुमित्र
कैसे कह दे यह राम कि निर्णय मान्य नही ।
पर आत्म-सत्य कहता मुझसे
सत्यानुकूल ही निर्णय हो
जन-मन से भिन्न नही हो सकता कभी राम
स्वीकार मुझे होगा निर्णय ऋषि ससद का !"

वे बैठ गये इतना कह कर
हो गये लुप्त गम्भीर भाव सब के मुख से
दौडी प्रसन्नता की लहरे सब के दृग मे
कुछ लोग देखने लगे राम को बार-बार

"हे भरत ! तुम्हे भी कहना है कुछ, तो बोलो"
—बोले वसिष्ठ
तब कहा भरत ने उठ कर करुणा के स्वर से—

"हे मुनि महान ! हे राम और पुर-जन उदार !
वाणी मेरी हो रही मौन
मै क्या बोलूं !
आँसू के पारावार उमडते है दृग मे क्या कहूँ हाय,
अवरुद्ध कण्ठ से कोई क्या कह पायेगा ?
लज्जा से मेरा मस्तक अब तक उठ न सका
अपराधी के मुख पर मुस्कान नही आती
कपटी न न्याय के सम्मुख कुछ कह पाता है

इतना ही मै कह सकता हूँ, मै दोषी हूँ
माता पर दोष लगाने वाला मानव होता है पापी
जो उडी एक चिनगारी लोभी-इच्छा से
वह मेरे मस्तक पर ही आकर बैठ गई
मा ने सचमुच सपना देखा
हो गया भरत सपने मे ही सम्राट स्वय
पर मै था दूर, सुदूर हाय
जब मै आया तो आँख खुली प्रिय माता की
मै आया हूँ अपने भाई को लौटाने
लौटाकर ही जाऊँगा अपने जीवन मे
यदि वे न लौट पायेगे तो मै भी विचरूँगा वन मे ही
है राज मुकुट से अधिक प्रेममय मुझे राम
जिस माता की इच्छा से राम यहाँ आये
उस माता की इच्छा से ही वे चले लौट

जब स्वार्थ सामने आता है
दुर्बल मानव का ज्ञान लुप्त हो जाता है
पर ज्ञान पुन. जब मिल जाता
चेतना मनुज की जग जाती
मा आई है चेतना लिये—निर्मलता का सत्यान्त लिये
साकेत-राज्य का भरत नही अधिकारी है
अधिकारी केवल श्रेष्ठ राम
दिन को जब बादल ढँक ले तो वह रात नही
इसलिए राम लौटे वन से
औ' मै ही वन मे रहूँ स्वय !"

इतना कह कर वे बैठ गए।
तब एक और मुनि बोल उठे आज्ञा लेकर—
"है भरत शुद्धतः दोषमुक्त
यदि राम सत्य के सेवी है तो लौट चलें
चाहते भरत वनवासी होना स्वय किन्तु
सुन्दर होता यदि राम भरत के सग चलते !"

तब खड़े हुए शत्रुघ्न सभा की आज्ञा से
बोले—महान ऋषि-गण, पुर-जन !
है राम प्रेम की मूर्ति स्वयं
वे प्रेम नही ठुकरा सकते
सब लोग एक स्वर से करते है वन-विरोध
इसलिये राम लौटे वन से
यदि आज्ञा हो तो मै ही वन मे रहूँ यहाँ

है राम भरत के लिये प्राण से भी बढ कर
सब माताओ ने मुझे कहा है कहने को
प्यारे है कितने राम सभी माताओ के, यह कौन कहे
यह स्वय राम जानते यहाँ
कैकेयी मा तो प्राण त्याग देगी वन मे यदि वे न चलेगे
साथ साथ

ससद के सभी सदस्य मौन सब को आपस मे देख रहे
अनुकूल परिस्थिति निरख बात करते स्वर से
पर एक शब्द भी नही निकलता, इतना अनुशासित ससद
बोले वसिष्ठ हर्षाकुल होकर एक बार—
"क्या और किसी को कहना है
कोई है जो चाहते बोलना यहाँ और ?"
सब मौन स्तब्ध पर हर्षित मुख की रेखाये
पर राम एक गम्भीर भाव की मुद्रा में
कुछ लोग उन्हे देखते अचम्भित भावो मे
इतने मे स्वय खडे होकर बोले वसिष्ठ—
"हे ऋषिकुल, जनकुल ! एक प्रश्न सम्मुख मेरे
सब की अभिलाषा यही कि राम लौटे वन से
जन-मत–आत्मा से निर्णय यही निकलता है
ऋषियो की भी इच्छा कि राम हो वन-विमुक्त
कर्त्तव्य प्रेम की ओर झाँकता बार-बार
कितना उदास साकेत हो गया है सच्चमुच
जब से नृप दशरथ नही रहे इस धरती पर
हे राम परिस्थिति से कर्त्तव्य निकलता है · ·

इतने मे राजदूत आये प्रिय मिथिला के
औ' ऋषि वसिष्ठ के प्राणो मे सन्तोष हुआ
सम्पूर्ण सभा मे एक हर्ष की लहर दौडती हुई चली
जब राजदूत ने कहा कि आते है विदेह !
पर ऋषि वसिष्ठ की ज्योति हुई सहसा लज्जित
जब पूछ दिया—हे दूत ! कुशल तो है विदेह
औ' उत्तर मिला कि उनका कुशल ? सदा चिन्ता-विमुक्त !
वे राम-प्रेम-आकर्षण से आ रहे यहाँ !

आ रहे जनक, आ रहे सग शत-शत पुर-जन
आते है विश्वामित्र नृपति के साथ-साथ
जा रहे इधर से स्वागत में मुनिवर वसिष्ठ
जा रहे राम के संग अनुज, जन-गण समस्त
नयनो की उत्सुकता दर्शन मे हुई लीन
सबने देखा, कितने प्रसन्न है प्रिय विदेह
वन्दन-अभिनन्दन-नमन और आशीर्वचन जब हुये शेष,
सन्तोप समस्या के भूतल पर करुणा को देखने लगा,
फिर दोनों ही चल पडे स्नेह की छाया पर !

चाँदनी-स्नात वह एक रात लेकर पवित्रता की किरणें
प्रिय चित्रकूट के आँगन मे विचरण करती
कहती विदेह से सब रहस्य
ले आता सत्य-सुगन्ध पवन
निद्रा मे ही जागरण जलाता आत्म-दीप !

जागा प्रभात,
उज्ज्वलता की मधुवेला मे गिरि-स्वर्ण शिखर पर
कौन खड़ा ?
सब देख रहे—वे तो विदेह !
कर किरण-स्नान वे उतर रहे धीरे-धीरे !

दोपहरी मे सीता आई,
देखा विदेह ने स्नेह युक्त, अधरो पर एक हँसी लेकर
आई तीनो रानियाँ पुन
सीता की माता ने सहर्ष सम्मान किया
फिर राम, भरत, शत्रुघ्न, सुमित्रानन्दन भी आये विदेह के
आश्रम मे
आये वसिष्ठ भी मन्द-मन्द
छू कर चरणो को बोल उठे राजर्षि जनक—
"मै स्वय वहाँ आने को था हे प्रिय महर्षि
पर बच्चो ने मेरे जीवन को घेर लिया !"
बैठे विदेह निज आसन पर हँसते-हँसते

दर्शन की चर्चा हुई त्यागियो के समक्ष
बोले विदेह—मानव का जीवन स्वय शिल्प
वह स्वय एक शिल्पी महान
मानव की अन्तर-मूर्ति आत्म ही गढती है
वह मूर्ति चमकती है चरित्र के ही रँग से
पर रग घोलता स्वय सत्य निर्मलता के गगाजल मे
है शिल्पकार जो मनुज नही निज जीवन का
वह विश्व-मूर्ति-निर्माण नही कर सकता है ।

यदि स्वय नही मानव सुन्दर अन्तरतर से
तो जग मे उसकी कैसे सुषमा फैलेगी ?
है लक्ष्य मनुज का नही कर्म केवल जग मे
है लक्ष्य कर्म-पूर्णता जहाँ आनन्द ज्योति देती विमुक्ति !

इसलिये आत्म-सन्धान रश्मि-सन्धान स्वय
जिसके इगित से ही शरीर वासना-मोह तजता रहता
वासना ज्ञान को बार बार मनकी लहरे छूती रहती
जो मन पर करता विजय वही तो मानव है
सम्पूर्ण इन्द्रियो पर जो करता विजय वही उन्नत योगी
देती न कर्मपूर्णता कभी वासना यहाँ
वासना कर्म मे कोलाहल भर देती है
पर ज्ञान पूर्णता के मस्तक पर पाता शीतल शान्ति, मुक्ति !

दर्शन के पाठक को दार्शनिक नही कहते
दर्शन के योगी कहलाते दार्शनिक यहाँ
औ' इसी तरह, विद्वान न पढ़ने से ही मानव बनता है
विद्वता कर्म से ध्वनित ज्ञान को कहते है !
आलोक वही जो अन्धकार पी जाता है
जो पी जाता है गरल वही तो अमृत पुत्र !

मानव के प्रश्नों के उत्तर दे रहे जनक
पर ज्वलित जीर्ण मध्याह्न सान्ध्य आह्वानपूर्ण
हो गई भग गोष्ठी कौशिक-इच्छानुकूल !

फिर प्रात-वात
छा गये किरण के रग म्लान जिनकी गति पर रवि निकल रहा

खग डाल-डाल पर चहक-चहक कर फुर्र-फुर्र उडते सहर्ष
झरती झर-झर निर्झरिणी गिरि के अन्तर से
सब नित्य-कर्म में लीन हुए वन-छाया मे
सुरभित वसन्त का अमिय-पवन बह रहा मन्द
कोमल किसलय के झुरमुट से रश्मियाँ सुनहली निकल रही।

उष्णता दिवस की उज्ज्वलता में जाग उठी
धीरे-धीरे दिनमणि केन्द्रस्थल पर आया
जनकाश्रम मे ऋषियो की हुई प्रशान्त सभा
उत्सुक वसिष्ठ ने भावुकता का पक्ष लिया चातुर्य्यपूर्ण
सत्याकृति को गम्भीर दृष्टि से देख रहे केवल विदेह
हो रहो प्रतीक्षा अन्तिम प्रेमिल निर्णय की।

सबकी आँखे देखती जनक का मुखमण्डल देदीप्यमान
श्रद्धानुरक्त सब देख रहे हर्षित मन की हरियाली से
बोले विदेह—हे मुनि वसिष्ठ, हे ऋषि, जन-गण !
है प्रेम कर्म का प्रिय सहचर
जीवन का ज्वलित महत्व प्रेम
हम इसी प्रेम के पथ से आये है वन मे
कर रहे समर्थन सभी प्रेम का प्राणो से
सब के नयनो में भरत-अश्रु कुछ कहते हैं
सब इस प्रतिक्षा मे बैठे है आशा पर
सबकी भाषा में जलते प्रेम-प्रदीप यहा !

पर मानव का कर्त्तव्य सत्य पर बैठा है
भावुकता के मस्तक पर ज्ञान चमक उठता

गति की धारा रोकना मनुज का धर्म नही
धारा बह कर अब बहुत दूर तक आई है
सम्राट वचन की छाया मे हो गये लुप्त
उनके जीवन मे दे न सका कोई सुतर्क
उनकी आँखो ने वन के सपने देख लिये
उस समय न माता पिघल सकी अंगारो से
अब वन से वापस जाना तो नृप दशरथ का अपमान घोर
उनकी मृत आत्मा व्यग्य करेगी जीवन से
जो तीर निकल कर चला गया उसकी चिन्ता है व्यर्थ यहाँ
भावुकता से कर्त्तव्य बहुत ऊँचा जग मे
कर्त्तव्य अकेला ही चलता मनुष्यत्व लिये।

इसलिये सत्य यह कहता है वनवास राम का कर्मपूर्ण
आज्ञा का पालन कर फिर आज्ञा भग-एक निन्दित आशा
उपहासपूर्ण प्रेरणा एक
उज्ज्वल है केवल वही प्रेम, है जिसमे त्याग भरी ममता
भावुकता के आँसू से निर्मल ज्योति अश्रु !

हे राम यहाँ से इतनी दूर चले जाओ—
जिस जगह न ममता घेर सके
विन्ध्याचल के उस पार, घोर-जंगल के भी उस पार
जहाँ द्राविड की शिव-सभ्यता मनुजता ढूंढ रही
सुन्दर वन-उपवन की शोभा है नदी-निर्झरी से शोभित !

सब मौन हुए सुनकर निर्णय
मानव का आकुल प्रेम सत्य को देख रहा

प्रिय चरण-पादुका माँग रहे है भरत राम से विनयपूर्ण
औ, राम जनक के निर्णय से कितनी प्रसन्नता में विभोर हो रहे स्वय
सीता विदेह-प्रस्थान-काल उनके चरणो को देख रही
हँसते आँसू को देख रहे केवल वसिष्ठ ।



दशम सर्ग

इतिहास ! तुम्हारे उद्यानो मे एक कलो
चौदह वर्षों तक नही खिली
उर्मिल झोके आये कितने औ' चले गये
लेकिन पंखड़ियाँ नही हिली

संयम के हरे वृन्त पर जीवन सजग रहा
ज्योतित चरित्र की सुरभि प्राण पर रही खडो
बस इसी प्रतोक्षा में, आशा की भाषा में—
आयेंगे प्राणों के पाहुन लेकर नवीन संगीत-प्रीत
कुछ ओस प्यार के बरसेंगे मेरे मन पर
साँसो की हवा चलेगी जीवन के वन मे
यौवन का सचित स्वप्न उड़ेगा एक बार
अभिलाषा का तूफान उठेगा अम्बर तक
उर्मिला ज्वार के कर से शशि को छू लेगी
तब तक नारी जलती है अन्तर दीपक पर
वासना, प्रेम, उत्सर्ग, भक्ति के आँगन मे
यौवन की ज्योति अकेली जलती है कब से
तूफान बुझा सकता है जिसको नही हवा-हिलकोरों से
झोके से मन का दीप नही बुझ पाता है
घिरता न प्राण पर अन्धकार
दुर्बलता की आई न एक भी रात कभी !

पर विरह-सिन्धु लहराता है, उफनाता है

नारी के दोनो तट से नित टकराता है
उर्मिला ऊर्मि-सगीत स्वय
रागिनी एक भूखी-प्यासी सुधि की शय्या पर सोई है
काँपती हुई स्वर-लहरी उर से निकल-निकल
साँसो की चिनगारी पर जल जाती प्रतिपल !

ओ विकल चकोरी ! आग खा रही हो कितनी
अगार चबाने मे भी तो आनन्द तुम्हे
है चाँद तुम्हारा दूर—नयन से दूर-दूर
इसलिये स्निग्ध शीतलता आती नही यहाँ
नयनो मे केवल घटा, घटा की एक रात
जो बारह वर्षो से सावन को सँजो रही
ऐसी वरसात न मिली किसी को भी जग मे
घूँघट से ही तुमने देखा शशि को केवल
नयनो से नयन न मिल पाये इस जीवन मे
नव वधू ! तुम्हारी भोली छवि
अब भी वैसी की ही वैसी !
सिदूर माँग मे चमक रहा वैसा ही तो
मुस्कान तुम्हारी सजल शीलता-गृह मे अब भी है वदित !

पैरो की उगलियाँ अब भी है रँगी हुई
हीरक सुहाग-बिन्दी वैसी ही ज्योतित है ।
आँखो के काजल धुले नही है आँसू से
तुम अब भी एक सुहागिन हो जीवन-वसन्त के सपने मे।
कोमल कपोल पर मोती बिखर-बिखर जाते किस लिये
देवि !

इसलिये कि तुम भी मानव हो
नारी हो कोमल नगरी की
भावना तुम्हे है रुला रही
वेदना तुम्हारे प्राणो मे सूई को चुपके चुभो रही
तुम सिसक रही, तुम सिहर रही, तुम काँप रही
उस तरह कि जैसे एक विहंगिनि उड-उड कर गिर जाती है
भीषण आँधी की छाया मे पति को खोकर
जिस दिन उसके यौवन की आँखे कहती है—
मै आज रात मे जागूँगी चाँदनी रात के फूलों पर
लेकिन उड़ जाती अभिलाषा आँधी के प्रलय-थपेड़ो से ।

सीता तो वन मे गई राम के सग-सग
संतोष एक ।
नारी ने नर का साथ दिया जगल मे भी
एकाकी नारी कैसे रह पाती गृह मे
वह भी तो चौदह वर्षो तक
उसमे भी नूतन वधू नम्र
वह चली गई पति के सँग-सँग

सीता की छोटी बहन ! मृदुल कोमल सुन्दरि !
निर्मले, उर्मिले ! ओ कलिके! तुम पर तो वज्र-प्रहार हुआ !
मुकुलित सुवक्ष पर एक पहाड़ गिरा आकर
नयनो मे आँधी उठी, नसो मे बिजली कौंध गई चुपके
लग गई आग सहसा जीवन मे एक बार
अभिलाषा की सारी कलिकाये झुलस गई

नारी का अन्तर-सत्य चीखने लगा स्वय
जब पुरुष-कर्म निष्ठुरता पर हो गया खडा
बन्धुत्व प्रेम आचरण भक्ति का रूप लिये !

है एक ओर प्रिय-प्राण बन्धु
दूसरी ओर वनिता नवीन, प्रेमाकुल सुन्दरता अधीर
कह रहा परम कर्त्तव्य किसी से—ओ मनुष्य !
माँगता देश बलिदान यही तुमसे केवल
उत्सर्ग करो, उत्सर्ग करो, हे बलिदानी
वनिता से बन्धु बडा है आर्यों की भू पर
सुन्दरता से कर्तव्य श्रेष्ठ है महाश्रेष्ठ
यह एक परीक्षा है मानव ! मत हो विचलित ।

इस तरह सुमित्रानन्दन गृह से चले गये !
केवल आँसू के चार बून्द चरणो पर गिरे विदा-वेला
सीता जिनको देखती रही आकुलता से !

हे राम ! उर्मिला को एकाकी देख हुई चिन्ता कि नही ?
वह देख रही है एक अटारी पर चढ कर
वह झाँक रही है निज पति को पर हाय, देख पाती न तनिक
आँसू की इतनी घटा उमडती है दृग मे !

जब लगी सुनयना रोने सुन साकेत-स्वप्न झकार करुण
राजर्षि जनक चौंके सहसा
देखा, रानी की आँखो से झर रहे अश्रु
वे अश्रु सत्य को ढूंढ रहे है ममता मे

जिसके गृह में उर्मिला अकेली खड़ी-खड़ी
देखती गरजती सिन्धु-धार
तट पर वह कितनी एकाकी यौवन-वसन्त-अभिशाप लिये
कर्त्तव्य-तरणि पर चले जा रहे हैं लक्ष्मण
बन्धुत्व और सेवा की चिर कामना लिये
पर हाय, उर्मिला मौन हृदय-वेदना संग कितनी आकुल
कैकेयी का वरदान-बोझ जिस पर अभिशाप गरजता है,—
उर्मिला अकेली उठा रही अपने सिर पर
सुन्दरता के मस्तक पर बैठा अग्नि-व्याल।

विचलित रानी को देख जनक ने कहा—देवि !
सघर्ष क्लेश की लपटों से ही उठता है
इसलिये दु:ख मे ही जीवन उज्ज्वल होता
विपदाओं के जल से जब प्राण तरल होते
आत्मा मे मानव-निर्मलता मिल जाती है !
सुख तो जीवन-उपभोग,
किन्तु वह योग
दु:खों के अग्नि-शिखर पर ही मिलता जग में
आनन्द जहाँ हो जाता सीमाहीन स्वयं
उर्मिला देह के सुख से वंचित हुई किन्तु
वह समझेगी जीवन को पीर-प्रवाहों मे
वह जायेगी उस जगह जहाँ पर मुक्त प्रेम
मानव के मन का बन्धन तोड़ बुलाता है !
तुम कहती हो मिथिला मे उसे बुलाने को
उसकी साधना न भंग करो विदुषी आर्ये !

सुख-साधन मे तप नही ज्वलित होता जग मे
दुख-सहन-शक्ति मे योग सुविकसित होता है
सुख की अनुभूति नही छूती है स्वर्ण सत्य
दुख की आभा ही गहराई तक जाती है ।

इसलिये वियोगी भी योगी बन जाता है
जीवन-अभाव मे भाव उठा करते ज्योतित
जो ले जाते है दूर-दूर मानव-मन को
चेतना जहाँ से उडती है किरणे लेकर
अज्ञान-तिमिर के पार ज्ञान मिलता नर को
उर्मिला दु खो की उर्मि ज्योति में जायेगी
विश्वास मुझे
अक्सर कहते थे याज्ञवल्क्य उसको—पुत्री !
तुम एक योगिनी बनकर ही मुसकाओगी
औ' एक दिवस वह आई थी मेरे सम्मुख
पूछने अर्थ उस एक शब्द का हँसती-सी
मैने भी उसे कहा था तब
दुख मे जो सुख पा लेता है वह योगी है !
योगी मनुष्य का प्रखर रूप
वह तेज जहाँ पर तिमिर नही आता भय से !

सुख-दुख के सपने बाहर केवल नही देवि,
भीतर भी है
बाहर से है जो सुखी, अधिक सम्भव है वे है दु खपूर्ण
अन्तर-तर से

अन्तर से है जो सुखी,
वाह्य से हों दुखमय यह भी सम्भव,
पर पीता है जो गरल दुःख का जीवन में
वह अमृत-पुत्र योगी महान् इस धरती का !
विष-ज्वाला से ही अमृत की बूँदें बनतीं
जिस तरह निविड तम से किरणे फूटा करतीं
जिसको प्राची पी लेता है चुपके-चुपके
औ' अमृत-कलश दे देता है नव ऊषा को
जो छलका देती है क्षिति पर
औ' सूर्योदय हो जाता है !

उस तरह आत्म-ज्ञानोदय होता मानव मे
प्रत्येक साँस में किरणे आती-जाती है
नयनों मे दो-दो सूर्य दिखाई पड़ते है
मुख से वाणी के संग ज्योति आती रहती
हाथो मे कर्मालोक चमकता दिन-मणि सा
चरणो में किरणों की गति लिपटी रहती है
मन मे रहती कल्पना विभा से भरी हुई
प्राणों के सरि मे खिल जाते है रश्मि-पद्म
औ' आत्म ज्योति का केन्द्रस्थल हो जाता है !

आदमी वही जो देखे अपना सूक्ष्म रूप
आदमी वही जो मनन करे जग-जीवन का
आदमी वही जो पहचाने निज को पहले
तव देखे जग को सृजन-सत्य-संकल्प लिये

वह मानव जो देखता सर्वदा बाह्य रूप
वह तो द्वयपग-धारी पशु है
जो तृष्णा की ही प्यास बुझाता मृग-भ्रम-सा मरु के पथ पर

है दृश्य बुद्धि यदि ज्योतिपूर्ण
तो कहो नही जो है अदृश्य वह ज्योति-हीन,
वह अति ज्योतित आलोकित है
आखे न देख सकती सबको
अनुभव से बुद्धि चमकती है
अनुभूति देखती है रहस्य
तब ज्ञान उसे छू लेता है साधना-किरण-कर से सहसा ।

आदमी रूप से एक चित्र,
रस और गन्ध से भी अपूर्ण,
परिपूर्ण साधना के बल से,
भौतिकता तो गति-जीवन का सघर्ष-स्वप्न
आध्यात्मिकता सूक्ष्मातिसूक्ष्म सज्योति-सत्य
जो मानव को देता पूर्णता-प्रसार सदा ।
यह सहज साधना नही, एक अति कठिन कर्म
दौडता मनुज है शीघ्र सहजता के पथ पर
केवल तृष्णा के लिये, सुखो के लिये यहाँ
पर लक्ष्य कठिनता का जीवन-आलोक लिये—
है खडा मनुजता के समुद्र के पार वहाँ
जा रही इन्द्रियो की लहरो पर सत्य-तरी
मन-वचन-कर्म के कोलाहल के सग-सग
उर्मिला वहाँ तक जायेगी हे देवि, सुनो ।

* * *

वातायन के सम्मुख पश्चिम में चाँद ढल रहा मन्द-मन्द
धीरे-धीरे है फैल रहा तम का प्रभाव
दक्षिणी हवा के प्रिय झोंके आ रहे कक्ष मे बार-बार
कोमल सुवक्ष से शीतलता पूछती अकेली श्रद्धा से—
'हे स्निग्ध योगिनी विरह-मग्न
तूलिका तुम्हारी कहाँ छिपी है जीवन की ?
क्या तुम्हें ज्ञात है देवि !
मिलन की तृप्ति कला की नीद एक
जो सपनों से जगमग केवल
पर विरह मेघमय जिज्ञासा जागरण एक
जो भाव भरा संगीत-स्वय
जिसमे मानव की कला आवरण खोल-खोल
बन्धन-विमुक्त करती बंदी दुख के मन को !

उर्मिले ! विरह के सभी वर्ष कट जायेंगे
तुम कला-सृष्टि का द्वार खोल दो हे आर्ये !
नयनो के जल से सप्त रँगो को घोल-घोल
साधना-तूलिका से खीचो प्रिय विरह-चित्र
जिसके प्राणों पर मिलन-दीप को जला-जला !
तुम भी विदेहिनी बनो स्वय कर्माकुल कला-विचारो मे !
जीवन का है उद्देश्य हर्ष, सुख, शान्ति, देवि !
तुम इसी लक्ष्य की शय्या पर
जलने दो विकल परिस्थिति की कम्पित प्रज्योति !

वह मानव है जो स्वयं परिस्थिति-लहरो पर

खेता है जीवन की नौका लेकर उमग
उस पार मिले या नही, नही इसकी चिन्ता
उसको तो जीवन को आगे ले जाना है
वह मानव सचमुच नही जोकि तट पर रह कर
देखता विश्व का सिन्धु, काँपता है भय से
छूता न कभी भी एक लहर अपने कर से
वह भी कोई क्या नाविक है जो डरता है तूफानो से
आँधी को उठते देख नाव तज देता है
लहरो के भय से दूर नही जा सकता है !

जो पूर्ण मनुजता पा लेता वह मनुज स्वय आलोक पुरुष
वह स्वय सत्य युग के स्वर का
करता है मानव योग-साधनापूर्ण मनुजता के हित ही
आदमी कर्म से ही परिचित होता जग में
इसलिये कर्म का योग मनुज-कल्याण-सत्य
जिसका प्रकाश इस धरती पर पडता समग्र
जन-गण-मन में चेतना एक आती हँसती
मानव महान है कर्मो से
सब धर्म कर्म के लिये बने
सत्कर्म रहित मानव का तप वह गगन हाय !
जिसमे न कही रवि शशि तारे
जिसमें न कभी घिरते बादल
मिट्टी पर, तप करता मानव, पर मिट्टी को कुछ देता है?

वह चाँद ढल गया पश्चिम मे

जिस तरह महामानव की मृत्यु हुआ करती
सम्पूर्ण विश्व में घोर तिमिर छा जाता है
उस तरह चन्द्र के ढलने से छा रहा घना वह अन्धकार
जिस तरह मृत्यु की वेला मे चेतना प्रवल उठती मन से
उस तरह उषा की प्रथम किरण आ रही गगन के नववन से।

उर्मिला कभी देखती इधर
उर्मिला कभी देखती उधर
जिस तरह जन्म औ' मरण निरखते जीवन को।

इतने मे आई वहाँ माण्डवी ज्योतिमयी
कापाय वस्त्र मे योग लपेटे जीवन के
छू रही अकेली वीणा को
भैरवी भर रही करुणा जल नयनो के दोनो पनघट से
आनन्द अधर से निकल रहा गति गीतो पर
तन्मयता का सगीत प्राण पर पिघल रहा
उर्मिला उँगलियों से खीचती अपूर्ण चित्र
केवल इंगित की रेखा से धीरे-धीरे
जो मिटते जाते क्षण-क्षण मे
जिस तरह तरगित लहर व्याप्त होती जाती है सागर मे
जो भाव जहाँ से आते है वे भाव वही मिट जाते है
पर प्राण तटी से वार-वार टकरा कर कुछ कह जाते है

वह कला-काल कितना पवित्र जो नयनो में भर दे आँसू
प्राणों में भर दे प्रेम-ज्वार

जो करदे जीवन को विदेह
जो आशा को परिभाषा मे करदे विलीन
जो प्राणो को दे फेक कही उस पार जहाँ
धरती की उज्ज्वल ज्योति छू रही शान्ति व्योम
वह क्षण कितना आलोकपूर्ण
जिस समय कला ले जाती मानव को सुदूर
अपने कोमल कर मे रख उसका सृजन हस्त
जब मुक्त चेतना हो जाती दृग में विभोर ।

माण्डवी मुक्तकेशी निर्मल
सयमित तपस्या-पद्मासन पर रख सुबीन
है लीन कला मे भावपूर्ण
जब से रे, नन्दीग्राम भरत से ज्योतित है
जब से है चरण-पादुका की पूजा होती

इस आर्य देश का त्याग और आदर्श चरम सीमा पर है
सोता है अनुज पर्ण पर ही सम्राट-शक्ति-गौरव लेकर
करता है कठिन तपस्या भाई के हित ही
अन्यायी माँ ने दिया स्वार्थ-साम्राज्य किन्तु
बन्धुत्व उसे त्यागता प्रेम-बलिदानो से
कहता है भाई श्रेष्ठ स्वर्ण-सिहासन से ।
जिस तरह उधर करते है तप सम्राट भरत
साम्राज्ञी भी लगती है एक भिखारिन-सी
सयम की शोभा दीप्त बनाती जीवन को
साकेत-राज-प्रासाद नृपति के लिये बना
पर इसके भीतर एक तपस्या कानन है

जिसमें विदेह की ज्योति विचरती ध्यानमग्न ।

है जेठ-पूर्णिमा शेष उष्ण शीतलता की चाँदनी लिये
उत्तर से पावस चला आ रहा मेघों की सेना लेकर
जय घोष सुनाई पडता है जब जलते है विद्युत-मशाल
बजते है जलद-मृदंग झकोरो के कर मे
उत्तेजित करते इन्द्र बजा गर्जना-शख
जल की हिलोर आरही झूमती सिह-सदृश
चन्द्रमा छिप रहा पश्चिम के श्यामल वन मे
अति विकल चकोरी उड़ती जाती है सुदूर
पर एक पपीहा कहता है पी कहाँ ..
उधर ऊषा की डोली पर चढकर आती वर्षा
ऋतु की माता कर रही विदाई अश्रु लिये
रवि के रथ पर आ रहा मेघ लेकर असाढ की प्रथम घटा
ढोता आ रहा पवन केवल उस डोली को
किरणों के जय जयकार हो रहे पूरब मे
सम्पूर्ण गगन श्यामलता मे है डूब गया ।

पावस का प्रिय साम्राज्य छा गया शक्तिपूर्ण
संगीत-वृष्टि से अवनी हर्षित हुई आज
माण्डवी उर्मिला से कहती—ईश्वर क्या है ?
उत्तर देती वह तुरत एक—
आत्मा की पूर्ण सफलता का अक्षय प्रकाश ही ईश्वर है
जिसकी छाया है चरम ज्ञान
जिसकी माया है मृत्यु-तिमिर

औ' जीवन जिसका बुद्धि-किरण
नास्तिकता जिसकी घोर तर्क
आस्तिकता जिसकी नम्र भक्ति
मानव सहस्र उत्सुकता से देखता उसे
पर कहाँ दिखाई पड़ता है वह परम रूप

मानव अपनी ही आत्मा में ढूंढता उसे
ले ज्ञान ज्योति
औ' हो जाता है ज्योतिमान वह स्वय कभी
जो ईश्वर को ढूंढता वही ईश्वरमय हो जाता भू पर
प्रतिबिम्ब प्राण पर पड जाता अन्वेषण से
आत्मा शरीर दोनो का है सग्राम यहाँ
दोनो का है आधार सत्य
आत्मा शरीर के पिंजडे का पंछी ज्योतित
जो उड जायेगा कब, कैसे यह पता नही।

आदमी बुद्धि से काल-कल्पना करता है
पर ज्ञान लक्ष्य को दूर-दूर ले जाता है
जिस ओर एक उडती-सी ज्योति चमकती है
विश्वास शक्ति ही करती ईश्वर का अनुभव
श्रद्धा से ही मन प्राण ढूंढते परम सत्य
अन्यथा मनुज चिन्ता लेकर मर जाता है।

मानव है कर्म प्रधान यहाँ
है बुद्धि कर्म के लिये मिली
कर्मानुभूति के लिये ज्ञान ढूंढता सत्य

इसलिये मनुज ही मानवता का स्रष्टा है
ईश्वर ने उसे चेतना की किरणे दे दी
इसलिये मनुष्य धरा का सर्वोत्तम प्राणी ।

माण्डवी बीन के तारों को छू कर सहसा—
बोलने लगी हँसती हँसती—
तू ने सीता से सीखी है यह परिभाषा
वह कहती थी—मैं हूँ विदेह की आत्म ज्योति !
उस नन्दिग्राम की ओर माण्डवी निकल पड़ी
उर्मिला देखती रही उमड़ते बादल को
वर्षा की शीतल हवा प्राण तक जाती है
संगीत सजल भर जाता है दोनो दृग में—

गीत

यह असाढ का प्रथम दिवस है
रुक जाओ दक्षिण के बादल !
विरह-स्वप्न-गिरि-तप्त शिखर पर
विमल उर्मिला का अन्तरतर
विकल ज्वाल से झुलस चुका है
उतरो हे करुणा घन श्यामल !
नीर भरे ये दृग विश्वासी
मिलन पर्व हित नित अभिलाषी
ओ अनन्त के अश्रु ! हृदय पर
धर दो मृदु फुहियो का आँचल !
ले जाओ घन मन की भाषा
व्याप्त करो प्राणो मे आशा
उडो लक्ष्य तक प्रिय दर्शन हित
हे बादल-दल कज्जल उज्ज्वल !
यह असाढ का प्रथम दिवस है
रुक जाओ अलका के बादल !

स्नेह-गगन मे स्वप्न-निशा सँग
घिरी तैरती सुधि ,की बदरो
निकला चॉद घटा के घर से
लिपट गई चॉदनी लहर से
रूप-रश्मि उस तट से आकर
इस तट पर मुसका कर बिखरी ।
वातायन खुल गया तुम्हारा
फूट पडी गीतो की धारा
नयनो के यूथिका-गुच्छ पर
ज्योत्स्ना की सुन्दरता निखरी !
सुरभि-स्नात आशा की भाषा
खुली, खिली पाकर अभिलाषा
पावस बरस-बरस कर बीता
रीती रही प्यास की गगरी ।
स्नेह-गगन मे स्वप्न-निशा-संग
घिरी तैरती सुधि की बदरी !

घोर घटा को एक ओर से
चमक उठी चाँदनी तुम्हारी !

बरसी तम के उर पर आशा
खिली कुमद-वन-सी अभिलाषा

प्यासे प्राणो के अनन्त मे
गूंज उठी रागिनी तुम्हारी !

लहर-लहर पर उतरी माया
फैल गई धरती पर छाया

फूलो से शोभित कूलो पर
जाग उठी यामिनी तुम्हारी !

घोर घटा की एक ओर से
चमक उठी चाँदनी तुम्हारी !

कहीं-कही चाँदनी तुम्हारी
कहीं-कही पर घटा तुम्हारी !

यह वर्षा की विस्मय-क्रीड़ा
सदय हृदय मे भरती पीड़ा
कहीं तुम्हारी उजियाली है
कहीं तुम्हारी है अँधियारी !

सुख-दुख-शोभित अवनी-अम्बर
है वसन्त के घर में पतझर
भीगी रहती करुणा-जल से
पुष्पित भू की क्यारी-क्यारी !

मधुर अमृत तो मधुर गरल भी
प्रेम दिव्य, वासना विमल भी
शूल-फूल की मधुर भूल मे
धूल भरी प्रिय वसुधा सारी !

कही-कही चाँदनी तुम्हारी
कही-कही पर घटा तुम्हारी !

मेघ - रन्ध्र मे मधुर रागिनी
घटा - नृत्य मे गीत तुम्हारे ।

निखिल गगन मे जीवन - आशा
पर यह मन प्यासा का प्यासा

काले - काले घुंघराले घन
उमड रहे है नदी किनारे ।

नयन - नयन मे आओ बादल
दो समता का ममतामय जल

शुभ्र सत्य पर हे शिव - सुन्दर
उतरो जलधर पख पसारे ।

हरी भरी हो मन की अवनी
हो पुलकित श्रद्धा की जननी

विरही जीवन विरह - मुक्त हो
हो विलुप्त दुख के तम सारे ।

मेघ - रन्ध्र मे मधुर रागिनी
घटा - नृत्य मे गीत तुम्हारे ।

पानी की करुण कहानी से
पत्थर के टुकडे भी झरते !

निष्ठुर अब मत आघात करो
बादल लेकर ही बात करो

भीषण वर्षा तूफानी से
सैंकडों पपीहे भी मरते !

चातकी स्वाति - कण ही पीती
दो बूंदों पर ही तो जीती

तुम नभ के सागर को उडेल
हे करुणामय यह क्या करते !

उठती रहती आँधियाँ प्रबल
गिरती रहती बिजलियाँ चपल

पर प्रेम - मयूरी के तन - मन
हिलकोरो से न कभी डरते !

पानी की करुण कहानी से
पत्थर के टुकडे भी झरते !



एकादश सर्ग

ज्ञानाग्नि-रक्त पद्मासन को कर्मोन्मुखी
शत शिखा-पंखडी पर बैठे
ध्यानानुरजिता ग्राखो से देखते विदेह उषा की पहली किरण
गगन की नील वेणु से पवन-गान-आह्वान आ रहे मन्द-मन्द
धीरे-धीरे रश्मियाँ लता-सी फैल रही उर्मिल गति से
अरुणोज्ज्वल ज्योति-प्रशान्त सिन्धु मे
खिलता एक प्रकाश-कमल
आलोक-अप्सरी उड़ा रही है नीड़-नीड़ से मुक्त विहग
अधखुले नयन मे प्रतिविम्वित सम्पूर्ण विश्व ।

प्राची की किरणमयी छवि पर नाचती नम्रता की छाया
कल्पना-ब्रह्म की एक घटा घिर रही उधर
संहार कर रही शिव-साधना तडित-बल से
झरते झर-झर बादल भू के पोषक सुविष्णु-हरियाली पर
शत-शिव-सुन्दर-सगीत सृष्टि की केन्द्र-बीन से निकल रहे ।

उच्छ्वसित रागिनी व्याप्त हो रही सभी ओर
मिथिला के आम्र-विपिन से भी आती हिलोर
सुन रहा हिमालय भी पुकार
उस पार हो रही एक दिव्य झकार कही
रे वही देखते है विदेह विश्रान्त स्वप्न
जिसकी छाया मे काल कर रहा है क्रीडा

ससार-सृजनमय कौतुक के दो शक्ति-पुष्प हाथो में ले
नित जन्म-मरण की मौलिकता झरती भू पर
नित-कोटि-कोटि ग्रह नाचा करते है ऊपर ।

औ' इसी बीच यौवनोन्मत्त नर्त्तकी चतुर्दश
लिए रूप की स्वर्ग-शिखा
नूपुर मे कामोद्दीपन की झकार-सुरभि,
नयनो में मृग-मद का वासनोत्कर्ष
अधरो मे चुम्बन का अनन्त पूर्णिमा-ज्वार
भगिमा-भाव-अभिव्यक्ति कुज में ले अनग के चरम बाण
सुषमा-बाँहो में ले वसन्त के इन्द्रजाल
——आती, विदेह का आलिगन करती, इच्छित——
अभिलाषा के अगारो से ।

यौवन-सुवक्ष की अमिय उष्णता ले स्वतन्त्रता के सुपख
उड़ती विदेह की साँस-साँस मे लिये शक्ति
पर किंचित भी अनुरक्ति नही खिलती मन पर
प्राणो को छाया भी न छू रही सपनो से
सर्वाङ्ग इन्द्रियाँ थक जाती रूपसियो की ।

केवल विदेह के अधरो पर हँस रही हँसी
इतने में प्रिय नर्त्तकी कचुकी खोल गोद मे सो जाती
वक्षस्थल पर रख लेती उन्नत एक हाथ अद्भुत नृप का
पर एक हाथ तप रहा अग्नि मे मन्द-मन्द
यह महा सृष्टि का व्यग्य देखता स्वय सत्य
जिसकी अनन्त सुन्दरता है शिव-गधमयी ।

ऋषि भरद्वाज मतिमान इसी क्षण आये हैं
अपलक विसूक्ष्म दृग से देखते विराग-राग
अध्यात्म-चरण पर भौतिकता-सौन्दर्य-अर्घ्य
निर्लिप्त तपस्या सृष्टि-शिखर-साधना-लीन
साकार ब्रह्म-परमात्म ज्ञान उदगम-समक्ष
राजर्षि महान महर्षि-महोज्ज्वल से उज्ज्वल
जीवन का ज्योतित शेष प्रखरता के अशेष मे लुप्त, व्याप्त
केवल शरीर ही दर्शनीय साधन-गृह में ।

ऋषि ने विदेह-वदना ध्यान की पलकों पर—
रख कर मन ही मन स्मरण किया तंदिल उर का
मस्तिष्क जहाँ हिम-सा गल कर था पिघल रहा
बुद्धिका-निर्झरी चन्द्र-किरण-सी फैल गई थी वहाँ
जहाँ उन्मुक्त मनुजता की सुशक्ति
विभ्राट मनुज बन जाती है
मानव महानता की लघुता मे रहता लिये विराट् रूप
विज्ञान आत्म-विज्ञान नही छू सकता है
जिस तरह गगन के पार न कोई जा सकता
जाती केवल आत्मानुभूति साधना पख को खोल-खोल
धरती पर रह कर ही अम्बर छूना पड़ता ।

आकाश-कुसुम तक तो विमान जा सकते है
नीलान्त व्योम तक आत्म-किरण ही जाती है
इस मिट्टी मे इतनी परमाणु शक्ति मिलती
जब आत्मा में आध्यात्मिकता विकसित होती !

आलोकित जनक विशाल आज सम्मुख मेरे
जिनका विदेह-सगीत वहाँ से दूर-दूर
जिसके आगे कोई पहुँचा है या कि नही
यह कहे कौन ? मै मौन प्रश्न की छाया मे
इसका उत्तर वह कलाकार दे सकता है
जिसका चित्रण सम्पूर्ण प्रकृति की यह माया
जिसके अणु-अणु मे सुप्त रहस्य छुपा रहता
विज्ञान ढूँढता जिसका केवल बाह्य रूप
दर्शन सीमा को छूकर ही रह जाता है
आदमी बुद्धि का बली हुआ जिसके बल से
पा सकता है बस स्वीय शक्ति से दिव्य ज्योति
कर सकता है सम्पूर्ण धरा को निर्मलतम
समता का स्वर्ण शरीर सुविकसित हो सकता
जा सकती है मानवता इतनी दूर-दूर।

पर आत्म-ज्ञान अत्यन्त कठिन
यह एक विराटोत्कर्प शक्ति
जो विरले को मिलती भू पर
जब जीवन जल जाता अन्वेपण-लपटो से
अनुभूति शुभ्र हो जाती है चिन्तन-तप से
आनन्द उमड उठता है अन्तिम पीडा से
ब्रह्मांश प्राप्त हो जाता है साधन-वन मे।

तव फिर मनुष्य ऊपर उठता भू पर रह कर
नीलिमा ज्योति से मिल कर आनन्दित होती
मानव अरूप का रूप ज्ञात कर लेता है

कल्याण-अश्रु को लिये भूमि पर ही रहता
अन्यथा पंख उड़ते रहते सूक्ष्मात्मा के।

अन्त पुर मे नर्त्तकी नृत्य कर चली गई
राजर्षि विदेह जनक मे परिवर्तित होकर
हो गये एक नृप मानवता अस्तित्व लिये
आलोक-किरण अम्बर से भू पर पिघल गई
खुल गये नयन-दल दिव्य ध्यान-विश्रान्त काल ।

देखा ऋषि भरद्वाज को किंचित विकल आज
अभिवादन के पश्चात कुशल की जिज्ञासा हो उठी तीव्र
बोले ऋषि, सीता-हरण हुआ रावण-द्वारा
आर्यापमान से दुखित आज सम्पूर्ण देश
है विकल राम दक्षिण-वन मे
क्रोधाकुल लक्ष्मण गरज रहे
घनघोर युद्ध की महा समस्या आई है
मैंने विमान-निर्माण-हेतु की है चिन्ता
वैज्ञानिक अनुसन्धानपूर्ण कर लिखा शास्त्र
यदि हो विदेह-इच्छा तो निर्मित हो विमान
लंका जाने मे सुविधा हो हे नृप यथेष्ट
साकेत-सैन्यदल जा सकते है उदधि पार
बलशाली रावण पर हो सकता है प्रहार
मै चिन्तित हूँ हे जनक ! राम के लिये अधिक
मै ही क्यो ? ऋषियों के सारे दल चिन्तित है
प्रत्येक व्यक्ति चिन्तित है इस निष्ठुरता पर

रावण वैज्ञानिक अस्त्रो का निर्माता है
अनगिनत सैन्य-दल का अमोघ अधिकारी है
सन्तान वीरतापूर्ण सबल
वह मेघनाद रावण का ही समकक्ष रूप
लका मे केवल स्वर्ण नही, है शक्ति प्रचुर
तब तो सीता का हरण किया उसने छल से
यह तो मिथिला का भी अपमान महान नृपति
मिथिला की भी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा जलती है
जानकी जनक-तनया है कोई नही और
यदि दशरथ जीवित होते तो कुछ कर पाते
हे जनक ! राम के पिता आप ही तो है अब
कीजिये सुरक्षा जीवन की हरियाली की
अन्यथा सकल साकेत और मिथिला के सिर झुक जायेंगे !

रावण शकर का महा भक्त
अतुलित प्रबुद्धि का व्योम-बली
तन, मन, धन, जन से पूर्ण-पूर्ण
क्या नही मिला है लका को
प्रत्येक प्रजा है स्वर्णोज्ज्वल
लका रावण का कला-कुज
पुष्पित उद्यानो से सुरभित
वैज्ञानिक शस्त्रो से सज्जित
वल के वरदानो से गर्वित
सगीत-नृत्य से कल्लोलित
उन्मत्त सुरारस से सिंचित

सुर की अप्सरियों से शोभित
शिक्षित, दीक्षित पुलकित जन-गण
प्राकृतिक दृश्यो से मुखरित
है चारों ओर समुद्र
इस तरह अति रक्षित
विद्युत-दीपों से ज्योतित भी
फल, फूल, अन्न, जल से पूरित
सारी सुविधाएँ मिली वहाँ
ईर्ष्याकुल अलका भी तो है
देवता देख कर डर जाते
इतना उन्नत है द्राविड का साम्राज्य सुखद
कोई भी वहाँ भिखारी नही भटकता है
इतना प्रबन्ध
इतनी क्षमता है रावण मे ।

काँपते सभी उसके भय से
पुष्पक विमान भी छीन लिया
बेचारा दीन कुबेर दास उस रावण का !
जिसका मस्तक दश मस्तक से भी ऊँचा है
जिसके भय से राजेन्द्र काँपते है थर-थर
जल, पवन, अग्नि पर जिसका है अधिकार प्रचुर
जो मुक्त व्योम मे विचरण करता दूर-दूर
जो नीतिमान, जो ज्ञानवान, जो शक्तिमान
सर्वांग समुज्ज्वल जिसकी वैभव की नगरी ।
सोने का वह संसार करेगा महायुद्ध
वनवासी केवल राम-बाण-तूफानों से

आर्यों का संकट अग्नि-ऊर्मि से भरा हुआ
कहिये विदेह क्या है उपाय ?

हँस पडे जनक सुनकर बाते
ऋषि की लज्जा का क्रोध जागने लगा तनिक
विस्मय की जिज्ञासा नयनो मे गरज उठी
लेकिन विदेह की हँसी व्यर्थ होती न कभी
यह जान महर्षि अवाक रहे नृप के सम्मुख
उस तरह कि जैसे जल सरोज का खिलना नही समझ पाता
अथवा हिसा की ज्वाला मृग की कोमलता जानती नही ।

गभीर नम्रता के नयनो से देख-देख
बोलने लगे सम्राट् जनक धीरे-धीरे
जिस तरह शेष रजनी मे पछी कहता है—
आ रही किरण तम से हँसती
वे बोल उठे सूत्रो की निर्मल भाषा मे
शास्त्रो की अति गहराई से
अनुभूति-ज्योति की वाणी मे
अरुणात्म-ज्ञान की सभी पखडी खोल-खोल—
"विज्ञान-दान से आत्म-ज्ञान का बल महान
हे मुने सौम्य ! जन-रमण राम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ
आत्मा का ज्ञाता अति कठोर
वे स्वय आत्म के सिद्ध पुरुष
जीवन के ज्वलित प्रतीक
और

यौवन के आत्मिक शक्ति रूप
जन-गण-मन के इच्छित अभिलाषा के न्यायी
जन-बल के युद्ध-प्रणेता भी
दक्षिण के द्राविड उनके न्याय प्रशसक है
सीता की हरण-समस्या जन-सगठन-कर्म
है कुशल राम जन-नीति-निपुणता मे युग से ।

देखा उस दिन राज्याभिषेक के समय ?
साकेत राज्य के जन-गण थे कितने आकुल
उस एक राम के लिये महा कोलाहल था
कैकेयी के वरदान स्वय थे अति लज्जित
प्रभुता की छाया मे भी आँसू उमड़ उठे
वरदान शुभ्र यदि अहकार अपना ले तो
जल जाता है वह स्वय कर्म-अगारों से
उसका अस्तित्व न रह पाता अभिलाषा मे
कैकेयी माँ है
वह उदारता की किरणो से उज्ज्वल है
लेकिन माँ ने ईर्ष्या का आश्रय लिया स्वय
ईर्ष्या ने उसको जला दिया जीवन मे ही
वरदान तारिकाओं-से टूट पड़े भू पर
वेचारे दशरथ क्या करते
वचनों की निष्ठुरता से थे वे वँधे हुए
क्या करते, वे भी चले गये चिन्ता लेकर
वरदान मृत्यु औ' जीवन दोनो ही तो है !

वरदान स्वयं अभिशाप वना करता है अपनी कटुता से

इसलिये ज्ञान की छाया में वरदान रहे तो सुन्दर है
वरदान न हो यदि जन-कल्याण जगत मे तो
कहता है आत्मिक न्याय इसे ले लो वापस
अन्यथा ध्वस विस्फोट-ज्वाल से मानवता
कॅप जायेगी, इतिहास कलकित होगा ही !

लेकिन वन का वरदान देखता हूँ उज्ज्वल ।
सकीर्ण परिस्थिति से भी सत्य निकलता है
दक्षिण प्रागण मे राम-भ्रमण है नव्य जागरण का प्रतीक
मानवता का सघर्ष ढूँढता सौम्य सत्य
रावण भी है वरदान-बोझ से दबा हुआ
वैज्ञानिक आविष्कारो से है लदा हुआ
छू रहा शक्ति का अहकार गर्वोच्च शिखर !

लेकिन चरित्र की उज्ज्वलता हो रही नष्ट
अति घन-घमण्ड से ही तो विद्युत आती है
पर जब वह मेघ बरस जाता है पृथ्वी पर
केवल उजले बादल की छवि ही रह जाती है
उस शुभ्र शरद-गगनागन की निर्मलता मे !

माना लका मे सोना है
बल, बुद्धि और सेना भी है
प्रभुता के भीषण पर्वत है
सब कुछ है, सब कुछ है महर्षि !
लेकिन चरित्र का महा पतन है—महा पतन
मदिरा की नदियाँ बहती है

वासना-भोग की तृप्ति कालिमा जगा रही
अतिदुराचार का लोभ शक्ति को जला रहा
केवल शरीर का भोग एक अभिशाप स्वयं
आत्मा की निर्मलता से मनुज बली होता
चारित्रिक संयम से ही शोभा बढ़ती है।

विज्ञान अगर कल्याण नहीं कर सकता है
तो जन-बल उसे जला देगा शव के समान
मनुष्यत्व चिता को फूंकेगा जग के समक्ष
संहार ! मनुजता का भीषण अभिशाप महा
दानवता का साकार तिमिर ।

पर सृजन !
मनुज की सफल कल्पना का कौतुक
कल्याण-चाँदनी की शोभा की अमिय-सृष्टि
संहार अगर जन गण-हित की साधना लिये
यह एक चरम कर्त्तव्य मनुज के जीवन का
औ' सृजन अगर केवल असत्य के लिये यहाँ
तो यह प्रलोभ-कल्पना नाश के हित ही तो !

रावण की लंका रावण के दैहिक भय से
है काँप रही युग-युग से मैं भी देख रहा
जन का जीवन-विद्रोह आत्म को उठा रहा
रावण की जनता रावण का परतन्त्र दास
इसलिये वहाँ की मिट्टी पर हँस रही क्रान्ति
जिसकी पुकार आती न सिन्धु के पार यहाँ
केवल समुद्र की लहरें ही सुन रही वहाँ

वह कुम्भकर्ण नित सुरामत्त सोता केवल
वह मेघनाद भी अहकार से अकुलाता
इस तरह सभी उसके अपने वैभव सपने मे सोते है ।
आत्मा की चेतनता का है सूर्यास्त वहाँ
बस कभी-कभी जब रावण-शिव-पूजा करता
उसकी चेतनता उठती है प्रिय प्राणो मे
लेकिन द्रुत ही जब अहकार चढता सिर पर
प्रभुता के जब तूफान उठा करते मन मे
वैभव की जब भीपण ज्वाला उठ जाती है
वह एक महा राक्षस रहता गौरवशाली
जिसके प्रगर्व से आत्म-ज्योति छुप जाती है
मानव-विहीन हो जाता है वह महा मनुज
जो विकल दशानन से प्रतिपल चिल्लाता है ।

रावण ने नही चुराया है प्रिय सीता को
धन-बल-प्रभुता के अहकार ने हरण किया
सीता रावण की स्वय मृत्यु
अपहरण गरल को देख-देख उसकी प्रभुता मर जायेगी
विश्वास मुझे है ऋषि महान ।
सीता का हरण कोटि जन का कल्याण स्वप्न
जो होगा द्रुत साकार स्वर्ण की लका में ।

वह देश जहाँ समता का है आदर्श नही
उसका सिहासन जल जायेगा जन-रव से
उसका नरेन्द्र मिट जायेगा अन्याय लिये
जन के तूफानो की थपकी से प्रभुता दीप बुझेगे ही

वह देश जहाँ रावण होगा
मैं योग सत्य से कहता हूँ होगा दंडित
चाहे जो युग हो हे महर्पि,
जन की ज्वाला से प्रभुता जल जायेगी ही !
अत्याचारी शासन का होता सदा अन्त

रावण ही क्यो यदि राम यही करते अनर्थ
उनको भी तो सिहासन से हटना होता
है न्याय सृष्टि के लिये व्यष्टि के लिये नही केवल उज्ज्वल।

माना, लका मे एक भिखारी नही वहाँ
खाने पीने को वहाँ पूर्णता का पहाड
तन से यदि भूखा नही वहाँ कोई भी मानव है महर्पि,
मन से वह कितना दुर्बल है
देगा चरित्र की भीख कौन ?
छोटा सा तो वह टापू है
डाके भी देते है गर्वोन्नत मानव दल
लेकिन दक्षिण मे भी तो रावण का प्रभुत्व
कितनी दुर्दशा वहाँ होती है मानव की
राक्षस आते तूफानों से
भय से नारियाँ छुपी रहती झोपडियो मे !

लेकिन आर्यो का यह सुदेश
है कोटि-कोटि मानव जिसमे,
भीपण अकाल भी पड़ जाते है कभी-कभी
मर जाते है लाखों मानव
क्या करे नृपति

असहाय परिस्थिति आ जाती उनके सम्मुख
पर कभी कभी;

लेकिन श्रम करते है सशक्त दुर्भिक्ष टालने मे नरपति
प्रत्येक दृष्टि से होती है चेष्टाये भी
है यहाँ भिखारी बहुत, जागता हूँ महर्षि,

मै भी तो एक भिखारी हूँ
बल्कलधारी हूँ कन्द मूल फल खाता हूँ
रहता हूँ तो निज महलो मे
करता हूँ निज साधना नग्न सौन्दर्य सत्य के बीच यहाँ
आते ही तो देखा होगा
कितनी विलासिता मे निशि-दिन विचरण करता
आ रही हँसी
पर स्वय समझ लो हे महर्षि !
यह कितना कठिन योग जीवन
सौन्दर्य नग्न हो जाय और मन रहे शान्त
यह मेरी साधन परिभाषा ?
चाहिये मनुज को बुद्धि और विज्ञान विमल
चाहिये मनुज को हृदय-शुद्धि सगीत तरल
आत्मा अभिलाषी है समता की किरण हेतु
यह आर्य देश परिपूर्ण सूर्य सा चमकेगा !

ऋषि भरद्वाज अति हर्षित हुये वचन सुन कर
हर्षाकुल हृदय अश्रु को दृग में जगा रहा
मिथिलेश चले मुनि को लेकर अन्त पुर मे

जिस ओर सुनयना रानी भोजन सजा रही
कुश के आसन के सम्मुख ही पुरइन के नीले पत्तों पर।
जिस तरह कृषक गृहिणी सजती है भक्तिपूर्ण
निर्मल थाली मे प्रिय भोजन !
सामने कक्ष से मधुर रागिनी निकल रही
गीतिका-दृगी अध्यात्म-अश्रु से पिघल रही
स्वर-लहरी का आनन्द प्राण से टकराता
मुसकाता मन
सगीत-सिन्धु की लहरो पर
तैरता अरूप मुग्ध जीवन
रागात्मक मुक्त शरीर धीर
स्थिर कितना जग-चचलता मे !



द्वादश सर्ग

अर्द्ध रात्रि-वेला मे
वैठा है शय्या पर मदिर शक्ति-गर्व-स्नात
रावण अभिमान मे
दो विमुग्ध नर्त्तकियाँ देती है सुरा पात्र बार-बार यौवन को
लकापति पीता ही जाता है हँस-हँस कर !

पलकों पर नीद-उर्वशी पुकारती उसे,
गुदगुदा रहा अनग मत्तालस प्राणों को
निद्रा ने सुला लिया रावण को गोद में
नूपुर को वजा रही स्वप्न-परी मन्द-मन्द
रागिनी जगा रही सुपुप्त एक तार पर
रावण की स्वप्नमयी चेतना विचर रही चिन्ता की धार पर—
समस्त कामना समेत।

कितना एकान्त एक गिरि के उस पार से
झांक रहा चाँद और छिटक रही चाँदनी
रस भरी विभावरी सुमधुर मधुर लग रही
हरी-हरी लता स्वय लगती है शुभ्र परी
विचर रहा रावण का चचल मन कानन मे
पहुँचा वह एक बार निज अशोक-आँगन मे !

सोई है जानकी,

जल-जल कर दीपिका सतीत्व की
करती है रक्षा निज आत्म की ।
सपने की आँखो से देख रहा लकापति
काँप रहे अग-अग
भाग रही दूर-दूर मन की सारी उमग,

इतने में अति सशक्त मारुत हँस पडा तनिक
आँधी-सी उठी एक निद्रा की रात में
एक पीर विचर रही रावण के गात मे
धूलमय हुआ गगन
मेघमय हुआ अनन्त
विद्युत से हुआ दीप्त तिमिर-स्नात दिगदिगन्त
खुली दृगी,
और कामना मृगी उदास स्तब्ध हो गई ।

देख रहा रावण निज अन्त पुर-दीप को,
मन्द-मन्द जलता है
कम्पित से प्राणो मे भरता विह्वलता है
सोई है नर्त्तकियाँ रति-विलास-कक्ष मे
जाग पडी दोनो ही रावण की साँसो के विकल अहकार से ।
पुन एक इगित पर रिक्त पात्र भरा
और,
तीन बार पीने से
काम-क्रोध-कम्पन——
अति उत्तेजित शक्ति-निकट एक बार डर गया !

फिर भी लंकेश अभी
मन से गम्भीर है
प्राणों पर चिन्ता का चुपके से हाथ पकड़
नाच रही पीर है
मानस मे लगा हुआ एक लौह तीर है !
सपने की छाँह को,
कुछ निराश औ' उदास आँखों से देख कर
वज्र-भुज निहारता
चचल मन-रथ समेट
गति के दो अश्व को न वह तुरत सँवारता !

* * *

लोहित रवि ढल गया,
पृथ्वी से दूर-दूर वह तुरत निकल गया
सागर की गोद मे
लका अति शान्त है
दिवस-शेष ज्वाला से
अंग-अग क्लान्त है !
नभ पथ से उतर रही मन्द-मन्द एक परी
अन्धकार धारा पर बहती-सी आ रही—
सुस्निग्ध ज्योति की तरी
प्रसान्ध्य पवन वह रहा सनन-सनन
नूपुर ध्वनि हो रही झनन-झनन
गुजित है रजनी के चरण-चरण
मुखरित हैं शैल-शिखर

विपिन-विपिन
लहर-लहर
डगर-डगर
हरित, भरित, वक्र सरित, लघु निर्झर ।

बैठा चुपचाप अभी सोच रहा लकापति—
लाया था सीता को अपने अभिमान के डोरे में बॉध कर
लाया था सीता को वन, पहाड, नदी, झील,
सागर को लाँघ कर
उस दिन अति हर्षित था जीवन मे प्रथम बार
लाया था सीता को नयन-तृप्ति-पख पर
लाया था सीता को लका के आँगन मे प्रभुता के स्कध पर ।
लेकिन वह नारी तो सयम की ज्योति-मूर्त्ति
उसे देख-देख मदिर आँखे घबरा रही
पौरुष के पर्वत मे दुर्बलता आ रही
रहती वह मग्न सदा एक राम-ध्यान में
करता है वास राम उसके मृदु प्राण मे
वह सलज्ज सुन्दरी
कितनी है शक्ति-भरी
वह विदेह-नन्दिनी चरित्र-भैरवी प्रसन्न
मेरे व्यक्तित्व पर न उसको है मोह तनिक
प्रेमभरी आँखो से नित्य उसे देखता
किन्तु एक बार भी न मुझे देखती सप्रेम ।
करता हूँ क्रोध नित्य उसके व्यवहार पर
किन्तु क्रोध आता ही नही प्रणय-वाक्य मे
मधुर-मधुर वाणी से मै उसे पुकारता

लेकिन मेरी पुकार व्यर्थ गई—व्यर्थ गई
पड़ा नहीं कुछ प्रभाव हाय, हृदय-वज्र पर !
आज प्रथम जाना यह
नारी भी होती है अति कठोर, अति कठोर
आज प्रथम जाना यह
संयम से रखती है नारी निज जीवन को !

सीता को लाकर मैं दोषी हूँ तनिक नहीं
दोषी है राम जो कि मेरी प्रिय बहन से
उलझ गया बन्धु-सहित
इतना ही नहीं,
रोषपूर्ण दुष्ट आर्य ने
रावण की भगिनी की नाक काट ली सहर्ष !
निर्दोषी नारी पर आर्य-पुत्र का प्रहार—
क्या है अन्याय नहीं ?
इतना ही नहीं,
मार डाला उस मानव ने मेरे दो भाई को
दण्डक वन में सहस्र सेना के साथ ही !

मैंने भी समझा जो उचित वही तो किया
इतना तो सत्य है कि सूर्पनखा क्रोधी है
बुरी-भली बात कही होगी प्रिय सीता को
और आर्य राम तुरत क्रोधाकुल होकर हो
टूट पड़ा होगा निज गर्व खड्ग को निकाल !
आया है जंगल में वह विहार करने या—
आया है बाण लिये राक्षस-संहार हेतु ?

कुछ भी हो, सोने का देश यह सुरक्षित है
लका है घिरा हुआ सिन्धु की तरग से
उसका क्या साहस जो सागर को पार करे
आयेगा यदि वह तो बच कर क्या जायेगा ?
मुझसे तो डरते है बडे-बडे देवता
एकाकी मेघनाद ही तो पर्याप्त है
उसके सग युद्ध-हेतु ।
कर देगा अरि का वह लका मे अग्नि-दाह
क्योकि सौम्य सीता का प्रिय पति तो भिक्षु है ।

सीता का प्रेम कही मुझे मिल गया सहर्ष
तब तो इस लका मे आने की चेष्टाएँ
राम क्या करेगा भी ?
राम आर्य-पुत्र है,
आर्यों की बुद्धि सदा शका की बदली से
घिरी हुई रहती है
रक्खेगा कभी नही जीवन में सीता को ।

* * *

सीता के पाने मे क्या मै असमर्थ रहा ?
क्या मै असमर्थ रहूँ ?
आर्य-सर्पिणी सदैव गरल ही उगल रही
क्या मै तलवार तेज म्यान से निकाल दूँ ?
सुन्दरता-प्रतिमा को मार कर समुद्र मे सरोष आज डाल दूँ ?
किन्तु क्रोध व्यर्थ है

क्या होगा मार कर ?
क्या होगा कोमल उस छवि का संहार कर ?
अनुपम सुन्दरता वह लंका की शोभा है !

द्राविड़ की बुद्धि से अगाध सिन्धु वक्ष पर
अटूट सेतु बन गया,
सहस्र सैन्य आ रहे प्रवीर दाक्षिणात्य से
और, राम-युद्ध-घोष लंका के भूतल पर हो रहा सहर्ष आज
मेरे ही मूर्ख बन्धु क्षीणमति बिभीषण ने साथ दिया राम का
वनिता मन्दोदरी न नीति जान सकी तनिक
आर्यों की भक्ति में विनम्र मुग्ध हो गई
सीता के आते ही बनी स्वामि-शिक्षिका,
ज्ञाता हूँ मैं महान वेद, शास्त्र विद्या का
देती उपदेश मुझे पत्नी की चितना--महान् आश्चर्य है !
कुछ भी हो,
सीता की प्राप्ति तो अटूट प्राण-लक्ष्य है !

* * *

चारो ओर हिलोर, पवन-झकझोर
गर्जित सिन्धु तरगित क्षिति पर भोर
एक ओर ढल रहा चन्द्र-साम्राज्य
एक ओर रवि रजित है घनघोर !

गिरि-शिखरो पर मंजु मेघ के कुज
शोभित जिन पर किरण-प्रपुज-प्रछाँह

उषा हँस रही पकड-पकड कर मुग्ध
शेप निशा की श्यामल स्वप्निल बाँह।

मेघमयी लका मे शान्त, प्रशान्त
सीता सँजो रही नयनो मे नीर
बजती मन-प्राणो पर सुधि की बीन
मिथिला तक उडता है गीति-समीर।

आती रह-रह कर बचपन की याद
जहाँ विदेह-स्नेह-सुषमा-सगीत
घेर-घेर इगित करता चुपचाप
निर्मलता पर विचरित चपल अतीत।

छूते स्मृति की उत्सुकता के अश्रु
विकल उर्मिला की अन्तर-तर-पीर
उठती विद्युतभरी प्रतिध्वनि एक
कँप जाती कोमल प्रवासिनी धीर।

किन्तु ध्यान मे एक अकेला राम,
लोचन मे रघु-कुल-मणि का आलोक
करता हरण व्यथा-आवरण तमोष्ण
मिटते रहते प्रतिपल पीडा-शोक।

लरज-गरज अति उमड-घुमड कर मेघ
बरस-बरस कर थम जाते कुछ देर
रुक-रुक, झुक-झुक झरते जल-सगीत
लेती चपला जलद-राग को घेर !

उठती मन मे करुण अगीत-पुकार
प्राणों को धो देती पावस-वृष्टि
उठती आत्म-मिलन-जीवन-झकार
खुलती शान्तिमयी सौन्दर्य-सुदृष्टि !

राग-वृन्त पर खिलते शब्द-प्रसून
जिन्हे तोडती द्रवित कल्पना कौन
मेघ-गीत-गृह मे बैठी विश्रान्त
गीतिमयी सीता अगीत मे मौन !

किन्तु रागिनी उड़-उड़ कर अति दूर
भेज रही प्रिय को उन्मुक्त सँदेश
प्राण-विहगिनि छूती गगन अनन्त
गीत-पुष्प-गुम्फित घन-कन्या-केश !

किरणमयी घन-घटा देखती प्रात
निकल रही है तिमिर-प्रान्त से जोत
उडा आ रहा दूर-दूर से एक
लेकर पंखो मे गति ज्वार कपोत !

ज्योतित गिरि, वन, वृक्ष-श्रेणियाँ फुल्ल
लता वल्लरी धूप-छाँह-छवि-युक्त
सजल फूल-फल विमल विभा से पूर्ण
आकुल सीता हर्षित भावोन्मुक्त !

मै अशोक-वन मे चिन्तित हूँ
हरो पीर लका के बादल ।

तुम असीम मे विचरण करते
अवनी-कठ-पिपासा हरते

बरस-बरस कर हे करुणा-जल,
करो विरह की ज्वाला शीतल ।

सीता तुम्हे पुकार रही है
आँचल स्वय पसार रही है

गरजो प्रिय-सम्मुख भी जाकर
करो प्राण-मन को अब विह्वल ।

काल-स्रोत पर मै बह आई
लहर-लहर पर मै अकुलाई

हे अनन्त के अश्रु ! करो मत
मेरी मर्यादा को चचल ।

मै अशोक-वन मे चिन्तित हूँ
हरो पीर लका के बादल ।

कौन मौन घन के मृदु मन से
चुपके मुझे पुकार रहा है !

तपसी तन हो रहा प्रकम्पित
उमड़ रही है सुधियाँ सचित

साँसो पर आनन्द अकेला
मेरी पीर सँवार रहा है !

आज न दृग मे नीर भरो हे
शरद-सदृश नभ मे निखरो हे

सत्य, प्राण के वातायन से
रह-रह मुझे निहार रहा है !

जीवन पर पड़ती परछाई
करुणा पर छाई अरुणाई

कौन हृदय के सिन्धु-तीर पर
आकुल प्यास उतार रहा है !

कौन मौन घन के मृदु मन से
चुपके मुझे पुकार रहा है !

तुम विमल बादल सजल प्रिय
मैं विकल सौदामिनी हूँ।

हूँ तुम्ही मे व्याप्त प्रतिपल
हूँ तुम्हारी शक्ति निर्मल

तुम कनक मधु प्रात-रवि-छवि
मैं किरण मृदु कामिनी हूँ।

तुम मिले हो प्राण-मन मे
तुम खिले हो नयन-वन मे

एक क्षिति पर तुम दिवस हो
मैं अलकृत यामिनी हूँ।

ज्योति तुम, मैं जागरण हूँ
रूप तुम, मैं आवरण हूँ

जो तुम्हे स्वामी समझता
मैं उसी की स्वामिनी हूँ।

तुम विमल बादल सजल प्रिय
मैं विकल सौदामिनी हूँ।

मै तुम्हारे गगन-गृह की
रश्मि-रजित अरुणिमा हूँ !

निविड तम मे मुस्कुराती
बाल रवि-दीपक जलाती

प्रिय तुम्हारे विरह-पथ मे
मै मिलन की मधुरिमा हूँ !

हर दिशा मे एक इगित
कर रहा है स्वप्न ज्योतित

तुम तिमिर के नील स्वर हो
गीतिका मै स्वर्णिमा हूँ !

व्याप्त है सगीत-छाया
सत्य की मै शुभ्र माया

प्रिय तुम्हारी नीलिमा में
मै तुम्हारी लालिमा हूँ !

मै तुम्हारे गगन-गृह की
रश्मि-रंजित अरुणिमा हूँ !

प्राणों पर दीपक जलता है !

बाहर अँधियाली छाई है
आँखे मेरी अकुलाई है

मन करता है अर्चन-पूजन
तन मे कितनी विह्वलता है !

तुम ज्योति-वीथि से आते हो
सुधि के स्वर पर मुसकाते हो

तुम आते, प्राण सिहर जाते
यह कैसी प्रिय चचलता है !

उर के दृग से तुम दूर नही
तुम हो जीवन के साथ यही

साक्षी हो अविरल साँसो के
प्रिय, फिर भी क्यो आकुलता है !

प्राणो पर दीपक जलता है !

मानव-मन तो अकुलाता है !

जब दुख के बादल छा जाते
ये प्राण हाय, अकुला जाते

एकाकी सागर के तट पर
मानव-मन तो घबराता है !

पीडा की जब उठती तरंग
बेसुध हो जाते अग-अग

डगमग नौका को देख-देख
मानव-मस्तक चकराता है !

जब तुम प्रकाश भर देते हो
तम में इगित कर देते हो

विश्वास, आस-आभास लिये
मानव-मन तो मुसकाता है !

मानव-मन तो अकुलाता है !

प्रिय, पीड़ाओ से मुक्त करो !

नित घटा व्यथा की घिर आती
आहो से आँखे भर जाती
मै कठिन क्लेश से कम्पित हूँ
प्रिय, विरह और सन्ताप हरो !

तुम दुख के हरने वाले हो
तुम सब कुछ करने वाले हो
अति तिमिर दूर कर जीवन से
प्रिय हे ! असीम आलोक भरो ?

नारी-नौका करती डगमग
लहरो का मग, हिल जाते पग
उर मे तुम विचरण करते हो
तुम सम्मुख आकर भी विचरो !

प्रिय, पीडाओ से मुक्त करो !

तुम लंका मे कब आओगे ?

विश्वास प्रार्थना करता है
आशा पर सत्य विचरता है

तूफान और आँधी लेकर
तुम सागर पर कब गाओगे ?

हे प्राण मुझे मत बिसराओ !
इस पार यहाँ तक अब आओ !

तुम जल-पथ पर जय-ज्योति लिये
कब कुल-कर्त्तव्य निभाओगे ?

मैं छल के बल पर आई हूँ
दुख के घर मे अकुलाई हूँ

तुम मानव हो, लंका मे कब
विकसित मनुष्यता लाओगे ?

तुम लका मे कब आओगे ?

तुम मधुर-मधुर मुसका जाते ।

जब मन उदास हो जाता है
विश्वास थकित सो जाता है

प्राणो को यो छूकर प्रिय हे
अन्तर-सगीत सुना जाते ।

शीतल कितनी सुधि की छाया
है मोहमयी मानव-माया

तुम खोल सजल पल-दल चुपके
नित आत्म-स्वरूप दिखा जाते ।

प्राणो को प्राणो से ममता
मन को मन से कितनी समता

जो अश्रु न दृग तक आ पाते
तुम उन्हे तुरत बिखरा जाते ।

तुम मधुर-मधुर मुसका जाते ।



त्रयोदश सर्ग

रावण के अनजान प्राण पर
लगा राम का तीर
टूट गई इस महासमर से
लंका की जंजीर

विजय-घोष से गूंज गये
सागर के दोनों कूल
उड़ने लगी गगन में सहसा
सत्य-ज्योति की धूल !

वह रावण धरती पर सोया
रक्त निहार रहा है
प्रभुता का सम्राट् स्वयं
निज हाथ पसार रहा है

दश मस्तक की शक्ति
मृत्यु में त्याग रही अभिलाषा
महा काल हँस रहा सामने
लिए विदा की भाषा

अहंकार-वासना क्रोध का
सूर्य ढल रहा चुपके
शेष किरण देखती किसी को
बार-बार लुक-छुप के !

याद आ रही उस विदेह की
रावण को इस क्षण मे
जिसकी ज्योति-नन्दिनी बैठी
है अशोक के वन मे

ओ अनन्त ! रावण ने जग को
अक्षय पाप दिया है
क्षमा करो हे सत्य ! स्वय
मैने विष-पान किया है

ईर्ष्याकुल वासना ज्ञान के
सिर पर जब चढ जाती
मानव की सम्पूर्ण बुद्धि
वश मे न कभी रह पाती

लोभ पतन की जिज्ञासा है
कपट नाश की छाया
नीतिवान वह देश कि जिसने
न्याय-सत्य अपनाया

देख रहे रावण को मरते
स्वय सुमित्रानन्दन
नीद आ रही है आखो मे
उडा जा रहा जीवन

ओ लका ! मर गया दशानन
उज्ज्वल एक कफन दो

सिन्धु-तीर पर चिता जला कर
आंसू के दो कण दो

युग के महाबली के शव पर
दो करुणा की छाया
नारि-निर्मला मन्दोदरि के
पति की है यह काया

वार वार इसने रावण को
रोका था तम-पथ से
पर अभिमान न उतरा अपनी
गर्व-बुद्धि के रथ से

मन्दोदरी रक्त से धोती
है सुहाग की लाली
झुकी हुई है अश्रु-भार मे
करुणा की मृदु डाली

पति-विहीन नारी का जीवन
अकुलाता क्षण-क्षण में
उठती अग्नि ज्वाल रह-रह कर
कुसुमित यौवन-वन मे

चिता जल रही है रावण की
लंका के आगन मे
द्वन्द्व उठ रहे कभी-कभी
विश्रान्त विभीपण-मन मे

लंका वीर-विहीन हो गया
सत्य छोड़ने से ही
मानव अति मानव बनता है
प्रेम जोडने से ही !

अन्यायी चाहे जो हो वह
अरि है मानवता का
देता है इतिहास सत्य के
कर में कीर्ति-पताका

लक्ष्मण ने अभिषेक किया
रामाज्ञा से उस नर का
साथ दिया जिसने लका में
प्रिय सत-शिव-सुन्दर का !

राष्ट्र-नीति से विश्व-न्याय का
मूल्य अधिक होता है
विश्व-बन्धु वह मानव है
जो सत्य बीज बोता है

सत्य देश की सीमा के
बन्धन में बँध न सकेगा
विश्व-नीति का स्रष्टा
धरती पर उन्मुक्त रहेगा

वह मानव जो आत्म-ज्योति से
करता जग आलोकित

उसकी जीवन-सुषमा भू पर
चिर वसन्त-सम शोभित

वह भी न्यायी देश भला
बन्धुत्व न जिसमे जग का ?
पूर्ण मनुजता लक्ष्य पथिक है
एक विश्व के मग का

मनु का वंश समस्त मनुज है
धरती मानवता की
यह समस्त संसार एक—
परिवार-ज्योति समता की

बोल रहे हैं राम स्वर्ण—
लंका की प्रिय मिट्टी पर
सुनता है इतिहास युग-पुरुष
के मुख से निकला स्वर

हाय, राम रो रहे आज
लंका में भला हुआ क्या ?
सजल अश्रु पर उतर रही है
शत सुधियो की राका !

सीता की पावन स्मृतियों के
आते रह-रह झोके
उड़ने वाले प्राण-विहग को
कोई कैसे रोके !

महायुद्ध के बाद कही से
कोयल बोल रही है
प्राण-प्रिया अपने सुहाग की
घूँघट खोल रही है

ओ विदेह कन्या ! अशोक के
वन से अब तो आओ
एक बार हे देवि ! राम के
सम्मुख अब मुसकाओ !

बहुत दिनो के बाद नयन से
तुम्हे देख पाऊँगा
तुम्हे देखते ही मृगनयनी !
हर्षित हो जाऊँगा !

जाओ हे अजनि-कुमार,
हे नृपति विभीषण जाओ
जनक-नन्दिनी को अपने
पति के सम्मुख ले जाओ

करता है साकेत प्रतीक्षा
अब मेरे आने की
आई वह वेला पुर-जन से
मिलकर मुसकाने की

बीत रहे है वर्ष चतुर्दश
आती याद भरत की

कहती है कुछ बात कान में
सांसे स्वच्छ शरद की

हाय, तपस्विनि एक नारि
कितनी अकुलाती होगी
शयन-कक्ष के दीपो पर
आँसू बरसाती होगी

उस विदेह-पुत्री ने जल कर
सौरभ-दान दिया है
लक्ष्मण को देकर सहर्ष
भू का कल्याण किया है

उस पर या सीता पर किस पर
गर्व करूँ इस क्षण मे
चौकी किरणमयी बिजली
दोनों के ही जीवन मे !

दोनों के नयनो के जल से
सत्य हुआ है सिंचित
दोनों की अन्तर्वीणा के
तार हुए है झंकृत !

चिन्ता की शय्या पर बैठे है रामचन्द्र
करती हैं उर-पुर मे नृत्य पीर-नर्तकी
क्लेश, कष्ट, विपद, दुःख और नव व्यथाओं के

बजते है बाजे मृदु प्राणो के आस-पास
कौन बता सकता है कितना है मन उदास
एक-एक साँस सघन करुणा से ओत-प्रोत !

अरे, कौन मानस मे लुक-छुप कर कहता है—
वर्षों के बाद आज आती है जानकी
राम तुम्हे चिन्ता है उज्ज्वल अभिमान की ?
याद रहे रघुकुल के ज्योतिर्मय पुत्र हो
सत्य को समाज मे सुप्रकट करो निश्चय तुम
साक्षी दो सीता का भरी सभा बीच मे !
किसे गर्व नही राम जानकी-चरित्र पर
वह विदेह-नन्दिनी विशुद्ध ज्योतिपूर्ण है
शिक्षित है हुई महाजनक-ज्ञान-छाँह मे
वह विदेह की समस्त किरणो की आभा है !

नारी के विश्व मे
ऐसी वह नारी है जिसमे निर्मलता है
है कलक नही तनिक
तुम भी पुरुषोत्तम हो राम तनिक सोच लो
ज्ञात सकल विश्व को कि रावण के महलो को
सीता ने देखा है
कोई यदि कह दे हे राम एक बात भी
कोई यदि कह दे, सीता तम-स्नात तनिक है

आर्यों की शोभा पर काली परछाई को पडने दो नही राम !
एक बार नही राम, बार-बार सोच लो

रवि-कुल के सूर्य, तुम हजार बार सोच लो
दुर्बल-अति दुर्बल है आँखे आलोचक की
आँखे तो नित विशुद्ध कचन को जाँचती
चाहे वह कोई भी सोने को वेचे, पर
मानव सदिग्ध है
पत्थर पर घिसेगा उसको स्वीय इच्छा से !
पापी वह कौन जो कि कहे कुल कलंकिनी
उस पवित्र सीता को—प्रेममय पुनीता को
लेकिन हे राम ! उठे ऐसी क्यों कल्पना ?
अवसर ही आये क्यों ऐसा फिर जीवन मे
अथवा इस जीवन के बाद किसी काल मे ?
राम का चरित्र परम पावन, मन-भावन है
तो फिर क्यो सीता का सत्य रहे गोपनीय ?
दिनमणि की आभा को बादल क्यों घेर ले ?
अपनी सुन्दरता को प्रकट करो राम आज
जीवन को ज्वलित करो जन-मन के आँगन में।

टूट गया तार एक विकल-द्वन्द्व-बीन का
मन-ही मन राम सोच रहे सत्य-स्वप्न मे—
"मुझ को विश्वास सौम्य सीता के प्रेम पर
नर को विश्वास है जब अपनी नारी पर
प्रेम की परीक्षा फिर लेगा ससार क्यों ?
लेकिन संसार कही मुझसे ही पूछ दे
सीता का आचरण कैसे है शुभ्र राम !
उत्तर क्या दूंगा मै ?

बात क्या कहूँगा मैं ?
आत्मा के सौरभ को वाणी की तूली से
चित्रित कर पाऊँगा कैसे विश्वास से ?
उज्ज्वल आधार नही,
वाणी की वीणा मे ऐसी झकार नही
प्रश्नो की छाया मे सीता है शकिता-कलकिता !
लेकिन किन शब्दो मे उससे मैं बोलूंगा
यह रहस्य-द्वार भला कैसे मै खोलूंगा ?
यह तो अपमान घोर, सीता का, मेरा भी !

लेकिन यह मेरी दुर्बलता है जीवन की
स्वार्थमयी करुणा है यौवन-सौन्दर्य की
विकल मोह-माया पर मन की यह चाँदनी–
शीतलता भरती है नयनो के ओस से
लोभ-सुरा पीना तो रघुकुल की रीति नही
ऊची है सत्य से नारी की प्रीति नही
धरती ही माता है मेरी प्रिय सीता की
धरती पर विचरेगी मेरे आदेश से !

लेकिन यह किसने कहा कि वह कलकमयी ?
किसका निर्देश है ?
किसकी यह कल्पना ?
किसने यह सोचा है ?
किसका यह कठिन प्रश्न ?
कौन है अजान प्राण ?

किसका तूफान आज मुझको ललकारता ?
कौन वह विचारवान, ज्ञानवान, सत्यवान ?

मै ही तो प्रश्नो का सृजनहार स्रष्टा हूँ
तन से मैं मोही हूँ, आत्मा से द्रोही हूँ
वाहर की आँखों मे ममता के मोती है
भीतर के नयनों में न्यायपूर्ण ज्योति है
सीता के लिये हाय ऊपर से दोषी हूँ
और सत्य के समक्ष भीतर निर्दोषी हूँ ।

न्याय के निकट समस्त नारी है एक-सी
चाहे हो नृपति-प्रिया अथवा हो दास-प्रिया
सत्य के समक्ष न्याय होता है एक-सा
वह विदेह-नंदिनी समाज की समीक्षा मे
निश्चय अपराधी है शंका के सत्य पर
लंका मे राम उसे त्यागेगा आज ही !

हे विदेह ! क्षमा करो मेरी इस कटुता पर
शंका का एक प्रश्न उत्तर से हीन है !
सीता हे ! क्षमा करो तुम अपने राम को
प्रेमाकुल राम क्षमा माँग रहा जीवन मे
कर्माकुल राम किन्तु सत्य को पुकारता
एक साथ प्राणों पर मोह और ज्ञान के दो प्रदीप
प्राणो के मध्य मे प्रकाश है उतर रहा
मे अवाक् मौन हूँ अशान्त शान्त वेला मे

* * *

हर्ष-शरद-ज्वार लिये आ रही विदेह-ज्योति
पलको पर मिलन अश्रु-फूल हे वसन्त युक्त
साँसो की प्रेम-सुरभि फैल रही सभी ओर
प्राणो पर अभिलाषा करती है नृत्य नवल
विमल अग-अग मे तरग विजय-सिन्धु की,
अधर उमगपूर्ण, वक्ष सिहरन से ओत-प्रोत
नयनो मे राम, प्रेम उत्सुकता पर सुचित्र
कल्पना गगन सहस्र इन्द्रधनुष-छटा-पूर्ण
भावना-धरा अनन्त फूलो से फुल्ल-फुल्ल
मन मे सगीत, विकल तन में आनन्द प्रीत ।

पुष्प-सदृश झूलती सुरत्न जटित पालकी
चली आ रही विदेह तनया को लिये हुये
आ रहे विभीषण भी सग-सग पैदल ही सीता-सम्मान मे
बजते है वाद्य वृन्द जीवन उल्लास के, प्रेम मिलन हास के
एक शिला-खण्ड पर, बैठे है राम विकल
लक्ष्मण है खडे शूर वीर सभी बैठे है
डोली को देख रहे सभी एक दृष्टि से।

रुकी पालकी, विदेह नन्दिनी उतर गई
और राम दर्शन से एक बार सिहर गई
लक्ष्मण ने चरणो को छू कर की वन्दना
निकले कल्याण शब्द सीता के स्नेह से
किन्तु राम वज्र के समान है कठोर मौन
और मोम जैसी वह जानकी पिघल रही
करुणा के आँचल मे माँग रही प्रेम दान

नयनों मे नम्र अश्रु, प्राणों मे प्रणय गान

किन्तु राम स्तब्ध मौन, निष्ठुर पाषाण पुरुष—
के समान ध्यानमग्न !

विकल सभा-मध्य मे प्रसार किया राघव ने
शंका का जटिल प्रश्न
लंका मे एक बार सन्नाटा छा गया
कोलाहल हुआ पुन. जन-मन के प्राणो मे
शंका की आँधी से सीता की प्रेम-लता
जीवन की विटपी से बिखर गई भूमि पर
वसुधा पर गिरी हाय, एक बार मूर्च्छित हो
काँप गई मिट्टी भी सीता के रुदन से
अश्रु-स्नात हुये सभी नारी के अश्रु से।
लक्ष्मण की आँखे भी पिघल गई करुणा से
प्राण-प्राण सिहर गये प्रिय की निष्ठुरता से
मन-ही-मन भाई ने भाई पर क्रोध किया
चाहा कुछ कहना पर मन ने ही रोक दिया
मन-ही-मन सेना ने स्वामी पर क्रोध किया
किन्तु राम के समक्ष एक शब्द भी न उठा
सीता के लिये एक शब्द हाय, आज नही !
नारी हे ! उठो स्वय—कहता है आत्म-ज्ञान
शंकाकुल सपने का खोलो हे द्वार देवि !
बोलो तुम स्वयं आज मानव के सत्य से
अबला भी नारी है, सबला भी नारी है

नारी है शक्ति, भक्ति, नारी·अनुरक्ति है
नारी है शान्ति और नारी है क्रान्ति भी
नारी अगार और प्यार-ज्वार दोनो है
कन्या है, वधू है, माता है एक साथ
चपला है, शीला है, और वह गम्भीरा भी ।

मिट्टी से मस्तक को उठा रही जानकी—

मानव की आँखो मे शक का ही रोग है
निरख नही पाता है आत्मा की शुद्धता ।
करुणा से सराबोर बोल उठी सीता अब—
वाणी के बाण से न मारो हे नाथ । मुझे
मै हूँ असहाय नही, साथ एक सत्य है
मुझ पर विश्वास करो प्राण-नाथ प्राणो से
मै विदेह-कन्या हूँ, शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ
रवि-कुल की शोभा हूँ, रवि-कुल की आभा हूँ
घोर आश्चर्य है कि मुझ पर सदेह है
रघुकुल के सूर्य को
साक्षी है गगन, अवनि, दिगदिगन्त, गिरि, समुद्र
सीता के जीवन मे शका की घटा नही ।
निकला हे नाथ आज कैसे यह वज्र-वचन
रघु-कुल के मुख की यह कैसी कटु वाणी है ।

फूट पडे सभी एक बार इस विलाप से
किन्तु राम जैसे थे, वैसे ही अब भी है

पुरुष कर्म-अग्नि ने, नारी के आँसू को जला दिया ज्वाला से
जली नही करुणा की भाषा अंगार मे
बोल उठी सीता फिर सजल आत्म-क्रोध से—
कर दो तैयार शीघ्र एक चिता लक्ष्मण हे !
सीता की मृत्यु स्वर्ण-लका के युद्ध का अन्तिम परिणाम है
सुन्दर सौभाग्य है कि पति मेरे सम्मुख है
मै हूँ सौभाग्यवती, प्रेममयी शुद्ध सती !
फूट गया भाग्य किन्तु हाय उस विदेह का
सीता अपवित्र नही, मिथिला अपवित्र हुई
रोओ मत लक्ष्मण हे ! चिता एक रच दो अब
शंका से युक्त यह कलंक-भार मिथ्या है
रहने दो जीवन को अपयश से दूर ही
सीता अब जलकर ही स्निग्ध शान्ति पायेगी
नर को यदि गर्व है कर्माभिमान पर
नारी भी गर्वित है अपने नारीत्व पर !

राम के समक्ष एक शका की भूमि पर
धधक रही चिता एक लाल-लाल लपटो से
शेष हुई सीता की प्राण-प्रिय-प्रदक्षिणा
एक बार राम ने निहार लिया वनिता को
आँसू भी निकल गये नयनो के सत्य से
और जनक-नन्दिनी सुज्योतिमयी जानकी
हाथ जोड़ती हुई समा गई सुज्वाल मे
किन्तु स्वर्ण-सत्य और भी प्रदीप्त हो गया
अग्नि शेष हो गई, न शेष हुई शुभ्रता

धुल गया कलंक उस विदेह-योग-रश्मि का
शका का अग्नि-भस्म राम ने उठा लिया !
(अब भी साकेत के विमल अतीत कक्ष मे
एक ओर सीता का स्वर्ण-भस्म रक्खा है !)



चतुर्दश सर्ग

धुल गया कलंक उस विदेह-योग-रश्मि का
शंका का अग्नि-भस्म राम ने उठा लिया !
(अब भी साकेत के विमल अतीत कक्ष मे
एक ओर सीता का स्वर्ण-भस्म रक्खा है ।)



चतुर्दश सर्ग

उठ सकी नहीं झकार तर्क की कोई भी
साकेत-ज्ञान उस आत्म-सत्य को पा न सका
वाणी ही तो हो गई मौन भय से विष से
सुकुमारी नारी आग चबाने लगी हाय
कितनी कठोरता है, हे पुरुष तुम्हारी यह !
सीता की कठिन परीक्षा, मिथिला का महान अपमान
सत्य के ओ असीम तूफान ! आज मै कहता हूँ
मेरी भी घोर तपस्या है—सैकडो, हजारो वर्षो की
मन, कर्म और वाणी से हूँ शुद्धातिशुद्ध
यदि किंचित भी कोई कलक हो सीता मे
मै हाथ उठा कर कहता हूँ समक्ष—
"हो जाय तपस्या भग सहस्रो वर्षो की मेरी इस क्षण"
साकेत-वीन के तारो को तोडता हुआ
ऋषि का कोलाहल लगा व्योम को भी छूने
इतिहास देखने लगा राम की ओर स्तब्ध
ढुलके कपोल पर आँसू के दो बूँद शुभ्र
दोनो मे रवि-शशि की प्रकाश-चाँदनी मिली
साकेत-राज-प्रासाद मौन तम के समान
दो बूँद—राम के नयनो के दो बूँद अश्रु
इतिहास ! कहाँ तुम रक्खोगे इन हीरो को
यह तो मिथिला की शोभा है
यह तो विदेह की आत्मा है
नयनो के तट पर ये जो है दो सर्ग खड़े

उत्तुग हिमालय-शिखर-गर्व-सा हो आकुल
उस आदि महाकवि वाल्मीकि ने कहा दाहिना हाथ उठा—
ओ राम ! सयमित नयनों मे क्या अश्रु नही ?
जावन-कठोरता के पत्थर से निर्झरिणी भी बहती है
प्रज्वलित सत्य की अग्नि स्वयं करुणा का शीतल वाष्प बना
कुछ ओस गिरा देती है अपने प्राणों पर
मानव का हृदय बुद्धि के सूखे पतों को
जब धो देता है चुपके से उमड़ी आँखों के पानी से
तब ज्ञान कर्म के सिंहासन पर खिलता है !
तुमने पाई है ज्योति जनक के जीवन से
वह ज्योति तुम्हारी सीता-परम पुनीता है
तुम भूल गये हे राम स्यात उस दिन प्रेमिल
मिथिला से कुछ आँसू भी तो लेते आते
करुणा की घटा दृगो मे भर लेते कुछ भी
सीता को देते समय जनक भी रोये थे
उनके लोचन में भी इतिहास-कहानी थी
प्राणो के पर्वत पर बरसात उमडती थी
सीता आध्यात्मिक कन्या है अति मानव की
जीवन भर जलती रही सत्य-अंगारो मे
तुमने विदेह-प्रतिमा की अग्नि-परीक्षा ली
लोकापवाद के ही भय से

उत्तुग हिमालय-शिखर-गर्व-सा हो आकुल
उस आदि महाकवि वाल्मीकि ने कहा दाहिना हाथ उठा---
ओ राम ! संयमित नयनों में क्या अश्रु नहीं ?
जावन-कठोरता के पत्थर से निर्झरिणी भी बहती है
प्रज्वलित सत्य की अग्नि स्वयं करुणा का शीतल वाष्प बना
कुछ ओस गिरा देती है अपने प्राणों पर
मानव का हृदय बुद्धि के सूखे पतो को
जब धो देता है चुपके से उमड़ी आँखो के पानी से
तब ज्ञान कर्म के सिहासन पर खिलता है !
तुमने पाई है ज्योति जनक के जीवन से
वह ज्योति तुम्हारी सीता-परम पुनीता है
तुम भूल गये हे राम स्यात उस दिन प्रेमिल
मिथिला से कुछ आॅसू भी तो लेते आते
करुणा की घटा दृगो मे भर लेते कुछ भी
सीता को देते समय जनक भी रोये थे
उनके लोचन में भी इतिहास-कहानी थी
प्राणो के पर्वत पर बरसात उमड़ती थी
सीता आध्यात्मिक कन्या है अति मानव की
जीवन भर जलती रही सत्य-अगारो में
तुमने विदेह-प्रतिमा की अग्नि-परीक्षा ली
लोकापवाद के ही भय से

उत्तुग हिमालय-शिखर-गर्व-सा हो आकुल
उस आदि महाकवि वाल्मीकि ने कहा दाहिना हाथ उठा--
ओ राम ! संयमित नयनों में क्या अश्रु नही ?
जीवन-कठोरता के पत्थर से निर्झरिणी भी बहती है
प्रज्वलित सत्य की अग्नि स्वयं करुणा का शीतल वाष्प बना
कुछ ओस गिरा देती है अपने प्राणों पर
मानव का हृदय बुद्धि के सूखे पतों को
जब धो देता है चुपके से उमड़ी आँखों के पानी से
तब ज्ञान कर्म के सिंहासन पर खिलता है !
तुमने पाई है ज्योति जनक के जीवन से
वह ज्योति तुम्हारी सीता-परम पुनीता है
तुम भूल गये हे राम स्यात उस दिन प्रेमिल
मिथिला से कुछ आँसू भी तो लेते आते
करुणा की घटा दृगो मे भर लेते कुछ भी
सीता को देते समय जनक भी रोये थे
उनके लोचन मे भी इतिहास-कहानी थी
प्राणो के पर्वत पर बरसात उमडती थी
सीता आध्यात्मिक कन्या है अति मानव की
जीवन भर जलती रही सत्य-अंगारों मे
तुमने विदेह-प्रतिमा की अग्नि-परीक्षा ली
लोकापवाद के ही भय से

उत्तुग हिमालय-शिखर-गर्व-सा हो आकुल
उस आदि महाकवि वाल्मीकि ने कहा दाहिना हाथ उठा—
ओ राम ! सयमित नयनों मे क्या अश्रु नही ?
जावन-कठोरता के पत्थर से निर्झरिणी भी बहती है
प्रज्वलित सत्य की अग्नि स्वयं करुणा का शीतल वाष्प बना
कुछ ओस गिरा देती है अपने प्राणों पर
मानव का हृदय बुद्धि के सूखे पतों को
जब धो देता है चुपके से उमड़ी आँखों के पानी से
तब ज्ञान कर्म के सिहासन पर खिलता है !
तुमने पाई है ज्योति जनक के जीवन से
वह ज्योति तुम्हारी सीता-परम पुनीता है
तुम भूल गये हे राम स्यात उस दिन प्रेमिल
मिथिला से कुछ आँसू भी तो लेते आते
करुणा की घटा दृगो मे भर लेते कुछ भी
सीता को देते समय जनक भी रोये थे
उनके लोचन मे भी इतिहास-कहानी थी
प्राणों के पर्वत पर बरसात उमड़ती थी
सीता आध्यात्मिक कन्या है अति मानव की
जीवन भर जलती रही सत्य-अंगारो मे
तुमने विदेह-प्रतिमा की अग्नि-परीक्षा ली
लोकापवाद के ही भय से

उठ सकी नही झकार तर्क की कोई भी
साकेत-ज्ञान उस आत्म-सत्य को पा न सका
वाणी ही तो हो गई मौन भय से विष से
सुकुमारी नारी आग चबाने लगी हाय
कितनी कठोरता है, हे पुरुष तुम्हारी यह !
सीता की कठिन परीक्षा, मिथिला का महान अपमान
सत्य के ओ असीम तूफान ! आज मै कहता हूँ
मेरी भी घोर तपस्या है—सैकडो, हजारो वर्षों की
मन, कर्म और वाणी से हूँ शुद्धातिशुद्ध
यदि किंचित भी कोई कलक हो सीता मे
मै हाथ उठा कर कहता हूँ समक्ष—
"हो जाय तपस्या भग सहस्रो वर्षो की मेरी इस क्षण"
साकेत-बीन के तारो को तोडता हुआ
ऋषि का कोलाहल लगा व्योम को भी छूने
इतिहास देखने लगा राम की ओर स्तब्ध
ढुलके कपोल पर आँसू के दो बूँद शुभ्र
दोनो मे रवि-शशि की प्रकाश-चाँदनी मिली
साकेत-राज-प्रासाद मौन तम के समान
दो बूँद—राम के नयनो के दो बूँद अश्रु
इतिहास ! कहाँ तुम रक्खोगे इन हीरो को
यह तो मिथिला की शोभा है
यह तो विदेह की आत्मा है
नयनो के तट पर ये जो है दो सर्ग खड़े
सीता के सुख के बादल है
उसकी उमग की बिजली भी कौधती आज

वि

ओ राम, तुम्हारे नयनों के आकाश घटाओं से शोभित

लेकिन सीता के मन का मोर न नाच सका
हे वाल्मीकि ! यह कौन कहेगा आज यहाँ
सीता ने नयनों की मुस्कान नहीं देखी !
वह तो निहारती है पति का ही मुखमण्डल
उसके दृग में भी अश्रु-फूल हैं खिले हुये
कितने वर्षों के बाद
तपित नारी आई अपने गृह में
झूठे कलंक के सभी चिह्न हैं धुले हुये
माँ के सपने साकार बनाकर आई है
लज्जा के दो वातायन भी हैं खुले हुये
जिसके आगे गंभीर जलद के दो टुकड़े कितने प्रशान्त
शीतोष्ण सान्ध्य उर्मिल समीर-सी साँसें भी
आतीं, जातीं प्राणों के मलय-हृदय-वन से
निर्मल पवित्रता-सुरभि फैलती है सुदूर !

हे जनक-सखा ऋषि वाल्मीकि
इसलिए जनक-तनया इनकी भी तो कन्या
तमसा के तट पर ऋषि के आश्रम में ही तो
सीता के आँचल में प्राणों के लाल मिले
'बाबा' कहकर लव-कुश ने प्रथम पुकारा था
कितनी ममता है सीता के हित मुनि कवि को
इनके चरणों की छाया पर यह बैठी है
साकेत-प्रतिष्ठा जिसको नहीं उठा सकती
वह इतनी स्वयं प्रतिष्ठित है, आलोकित है !

वह बोल उठी जैसे विनम्र आँधी बोलती हवाओ से—
"हे मेरी नैसर्गिक जननी, पुण्या धरती
यदि मै पवित्र हूँ—अति पवित्र
प्रत्येक साँस मे राम व्याप्त है यदि मेरे
मन-कर्म और वाणी-निकुज के प्राणो पर
यदि सत्य लिये मै हूँ अब तक प्रिय के समक्ष
हे धरा ! जनक-तनया को निज मे लो समेट
सीता की एक परीक्षा अब तक रही शेष !"
साकेत-भवन में हुआ एक भूकम्प आज
फट गई ज्वलित मिट्टी सहसा सबके सम्मुख
कवि वाल्मीकि तक चौक उठे यह दृश्य देख
सीता धरती मे समा गई विद्युत-गति से
काँप गया जनक का सिहासन भी एक बार
जिस पर विदेह बैठे है निज साधना लिये
आलोक-योग की इच्छा पर नाचने लगा सम्पूर्ण विश्व
अति दिव्य दृष्टि में समा गये सारे सपने
मेरी बेटी—आध्यात्मशक्ति की प्रिय पुत्री
हो गई विलीन धरा-गृह मे ?
ओ राम, तुम्हारी आँखो से आँसू भी गिरे कि नही बोलो
मैने दी ज्योति तुम्हे अपनी
तुमने विलीन कर दी उसको
सीना-विहीन हे राम, आज निज को तौलो
तुम सीता पाकर शक्तिमान थे या कि नही
तुमने विदेह-पुत्री पर भी सन्देह किया
उस पुत्री पर जो शिव का धनुष उठाती थी

रावण का भौतिक बल न जिसे था उठा सका
लोकापवाद मिथ्या भी होते है राजन्
साकेत नहीं कर सका सत्य का समाधान
मेरी सीता ने अग्नि-परीक्षा दी जग मे
हे राम, व्यास ने भेजा था अपने सुत को
बस आत्म-ज्ञान के लिये कभी मेरे गृह मे
साकेत ! तुम्हें भी तो मिथिला मे आना था
दे सकता था उत्तर विदेह प्रिय प्रश्नो का
सम्राट नही, मै योगी एक भिखारी हूँ
हूँ प्रथम एक मै मनुज और तब ज्ञानी हूँ
तब हूँ विदेह विश्रान्त, शान्त
रावण को भौतिक बुद्धि स्वय जल जाती थी
सीता की अन्तर दीप-शिखा को शोभा से
आत्मा की अम्बर-शक्ति देह के गिरि-बल से
कितनी ऊँची है, यह तो जान रहे थे तुम
सीता को साँसों से भी ज्योति निकलती थी
हे राम, इसे भी तो पहचान रहे थे तुम
नारी के जीवन को तुमने जलते देखा
पूछेगा तुमसे ही भविष्य-इतिहास स्वयं
तुम वाल्मीकि को नही कलंकित करना तब
हे राम, राम का स्रष्टा ऊंचा है तुमसे इस धरती पर !

रो रहा जनक के सम्मुख वह साकेत-सूर्य
उसकी कठोरता पिघल रही है आंखो से
सरयू की लहरे लहरातीं दोनों तट पर
अनुभूति-तरणि खे रहे आदि कवि वाणी से

वह वोल उठी जैसे विनम्र आँधी बोलती हवाओ से—
"हे मेरी नेसर्गिक जननी, पुण्या धरती
यदि मै पवित्र हूँ—अति पवित्र
प्रत्येक साँस मे राम व्याप्त है यदि मेरे
मन-कर्म और वाणी-निकुज के प्राणो पर
यदि सत्य लिये मै हूँ अब तक प्रिय के समक्ष
हे धरा ! जनक-तनया को निज मे लो समेट
सीता की एक परीक्षा अब तक रही शेप !"
साकेत-भवन में हुआ एक भूकम्प आज
फट गई ज्वलित मिट्टी सहसा सबके सम्मुख
कवि वाल्मीकि तक चौंक उठे यह दृश्य देख
सीता धरती मे समा गई विद्युत-गति से
कँप गया जनक का सिहासन भी एक बार
जिस पर विदेह बैठे है निज साधना लिये
आलोक-योग की इच्छा पर नाचने लगा सम्पूर्ण ि
अति दिव्य दृष्टि मे समा गये सारे सपने
मेरी बेटी—आध्यात्मशक्ति की प्रिय पुत्री
हो गई विलीन धरा-गृह मे ?
ओ राम, तुम्हारी आँखो से आँसू भी गिरे वि
मैने दी ज्योति तुम्हे अपनी
तुमने विलीन कर दी उसको
सीना-विहीन हे राम, आज निज को तोल
तुम सीता पाकर शक्तिमान थे या कि
तुमने विदेह-पुत्री पर भी सन्देह किया
उस पुत्री पर जो शिव का घनुष उठ

मानव-पति ने सुन ली पुकार
झकार हुई मरणोत्सव की
हँस पड़े अचानक तब विदेह
सीरध्वज सहसा सिसक उठे
गभीर हो गये जनक और
मनुष्यत्व अचानक फूट पडा
फिर तो विदेह हँस पड़े और
वनिता को उठा लिया कर मे !

तूफान-भरे दो हाथों में मिल गई लाश की एक कली
जिस पर दो आँसू बरस गये फिर एक बार
जब चिता जल उठी महलो के ही आस-पास
औ' धरती जलने लगी लाल अगारो से
सीता ने मिट्टी की माता से कहा जननि !
मेरी वह माता भी आरही यहाँ रोती
जिसने मुझको बचपन मे दूध पिलाया था
अपने आँचल की छाया मे निज चुम्बन की
थपकी से मुझे सुलाया था
जिसने मेरे ही लिये रात मे जाग-जाग
युग-युग तक कष्ट उठाया था
जाने दो माँ उन लपटों तक
जिस पर वह माता जलती है
आँखे विदेह की आज मोम-सी
रह-रह स्वयं पिघलती है

जल गई चिता
विदेह

जिस पर विदेह की छाया वंशी बजा रही !
मिथिला के सिंहासन पर वल्कलधारी जनक सुशोभित हैं
अधखुली दृगी की सीपी से झरने वाले है दो मोती
उनकी सौम्या आकुल पत्नी देखती नयन को बार-बार
सोचती—"जनक की आँखो मे भी है आँसू
आश्चर्य ! घोर आश्चर्य आज
इतने मे मोती बिखर गये चुपके-चुपके
जैसे दो तारे टूट गये हो अम्बर से !"

रानी के विस्मय को सीता की मृत्यु मिली
वह तपस्विनी वनिता चिल्लाने लगी स्वय—
"सीता का धरा-प्रवेश राम के ही सम्मुख ?
यौवन की चढती वेला में प्रेमास्त हाय !
नारी का आत्मानन्द नम्रता में विलीन ?
मिथिला की आलोकित प्रतिमा का पटाक्षेप ?
हे प्रिय विदेह, मै माता हूँ निज सीता की
मेरे सुवक्ष के आँगन में वह सोई है
उर्मिला-सदृश ही पली प्राण-रस से मेरे
है जाग रहा मातृत्व नाथ,
मै माँ हूँ कोई नही और
सीता मेरी खो गई हाय,
छुप गई प्राण की दिव्य ज्योति
मिथिला की शोभा की कलिका झर गई स्वय
माता के रहते भी पुत्री चल बसी हाय,
हे ज्योति-जनक ! मै भी मिट्टी मे जाऊँगी
दो आज्ञा प्रिय, सीता मुझको है बुला रही !"

मानव-पति ने सुन ली पुकार
झंकार हुई मरणोत्सव की
हँस पडे अचानक तब विदेह
सीरध्वज सहसा सिसक उठे
गभीर हो गये जनक और
मनुष्यत्व अचानक फूट पडा
फिर तो विदेह हँस पड़े और
वनिता को उठा लिया कर मे ।

तूफान-भरे दो हाथो मे मिल गई लाश की एक कली
जिस पर दो आँसू बरस गये फिर एक बार
जब चिता जल उठी महलो के ही आस-पास
औ' धरती जलने लगी लाल अंगारों से
सीता ने मिट्टी की माता से कहा जननि !
मेरी वह माता भी आरही यहाँ रोती
जिसने मुझको बचपन मे दूध पिलाया था
अपने आँचल की छाया मे निज चुम्बन की
थपकी से मुझे सुलाया था
जिसने मेरे ही लिये रात मे जाग-जाग
युग-युग तक कष्ट उठाया था
जाने दो माँ उन लपटो तक
जिस पर वह माता जलती है
आंखे विदेह की आज मोम-सी
रह-रह स्वय पिघलती है

जल गई चिता
विदेह

जिस पर विदेह की छाया वंशी बजा रही !
मिथिला के सिंहासन पर वल्कलधारी जनक सुशोभित है
अधखुली दृगो की सीपी से झरने वाले है दो मोती
उनकी सौम्या आकुल पत्नी देखती नयन को बार-बार
सोचती—"जनक की आँखो मे भी है आँसू
आश्चर्य ! घोर आश्चर्य आज
इतने मे मोती बिखर गये चुपके-चुपके
जैसे दो तारे टूट गये हो अम्बर से !"

रानी के विस्मय को सीता की मृत्यु मिली
वह तपस्विनी वनिता चिल्लाने लगी स्वय—
"सीता का धरा-प्रवेश राम के ही सम्मुख ?
यौवन की चढती वेला में प्रेमास्त हाय !
नारी का आत्मानन्द नम्रता मे विलीन ?
मिथिला की आलोकित प्रतिमा का पटाक्षेप ?
हे प्रिय विदेह, मै माता हूँ निज सीता की
मेरे सुवक्ष के आँगन मे वह सोई है
उर्मिला-सदृश ही पली प्राण-रस से मेरे
है जाग रहा मातृत्व नाथ,
मै माँ हूँ कोई नही और
सीता मेरी खो गई हाय,
छुप गई प्राण की दिव्य ज्योति
मिथिला की शोभा की कलिका झर गई स्वय
माता के रहते भी पुत्री चल बसी हाय,
हे ज्योति-जनक ! मै भी मिट्टी मे जाऊँगी
दो आज्ञा प्रिय, सीता मुझको है बुला रही !"

मानव-पति ने सुन ली पुकार
झंकार हुई मरणोत्सव की
हँस पड़े अचानक तब विदेह
सीरध्वज सहसा सिसक उठे
गंभीर हो गये जनक और
मनुष्यत्व अचानक फूट पड़ा
फिर तो विदेह हँस पड़े और
वनिता को उठा लिया कर में ।

तूफान-भरे दो हाथों में मिल गई लाश की एक कली
जिस पर दो आँसू बरस गये फिर एक बार
जब चिता जल उठी महलों के ही आस-पास
औ' धरती जलने लगी लाल अंगारों से
सीता ने मिट्टी की माता से कहा जननि !
मेरी वह माता भी आ रही यहाँ रोती
जिसने मुझको बचपन में दूध पिलाया था
अपने आँचल की छाया में निज चुम्बन की
थपकी से मुझे सुलाया था
जिसने मेरे ही लिये रात में जाग-जाग
युग-युग तक कष्ट उठाया था
जाने दो माँ उन लपटों तक
जिस पर वह माता जलती है
आँखें विदेह की आज मोम-सी
रह-रह स्वयं पिघलती है

जल गई चिता

सन्ध्या की धूमिल छाया में
धीरे-धीरे सारे पन्छी अपने खोतो मे चले गये
औ' अन्धकार फैलने लगा चुपके-चुपके
पर एक विहग जो है विदेह
है खडा चिता की राखो पर
सोचता कहाँ जाऊँ अब मै
मेरा तो नीड यही है
इतना क्या कम है !
उस आस-पास मे कोई प्राणी नही और
है एक ताड का पेड खडा, जिसके ऊपर
उस नील गगन मे एक ज्योति जलती देखो !



पञ्चदश सर्ग

भीषण महा समुद्र गरजता हिल्लोलित, कल्लोलित
सीमाहीन गगन का जीवन पुलकित चन्द्रालोकित
लोल लहर से खेल रही है ज्योत्स्ना की सुन्दरता
विचर रही कोमलता के सँग गर्जित भू-भीषणता !

छाई चारों ओर कुहा-सम वाष्पित प्रिय उजियाली
कही-कही टकराती मिल कर विकल घटाएँ काली
भीड़ लगी है द्राविड़ गण की दक्षिण-सागर-तट पर
मत्र-सूत्र-संगीत गूजते विविध राग मे सुन्दर

प्राकृत-रागोच्चारण से मुखरित है सभी दिशाएँ
नृत्य-विभोर तटी पर शोभित है सहस्र बालाएँ
क्यो ऐसा उल्लास आज दक्षिणी-तटी-आँगन में
क्यो इतनी सगीतमयी विह्वलता है जीवन मे ?

इतने मे जलयान रुका जयकार हुआ धरती पर
उतरा स्वय हिमालय ज्योतिर्मय प्रभात-रवि-लेकर
जय विदेह, जय जनक-गूंजने लगा तुमुल कोलाहल
दर्शन की उत्सुकता के दृग से निकला करुणा जल

अभिनन्दन-अध्यक्ष बोलने लगे हार पहना के
दक्षिण की वदना समर्पित कर फिर शीश झुका के—

भीषण महा समुद्र गरजता हिल्लोलित, कल्लोलित
सीमाहीन गगन का जीवन पुलकित चन्द्रालोकित
लोल लहर से खेल रही है ज्योत्स्ना की सुन्दरता
विचर रही कोमलता के सँग गर्जित भू-भीपणता !

छाई चारों ओर कुहा-सम वाष्पित प्रिय उजियाली
कही-कही टकराती मिल कर विकल घटाएँ काली
भीड लगी है द्राविड़ गण की दक्षिण-सागर-तट पर
मंत्र-सूत्र-संगीत गूजते विविध राग मे सुन्दर

प्राकृत-रागोच्चारण से मुखरित है सभी दिशाएँ
नृत्य-विभोर तटी पर शोभित है सहस्र वालाएँ
क्यो ऐसा उल्लास आज दक्षिणी-तटी-आँगन मे
क्यो इतनी संगीतमयी विह्वलता है जीवन मे ?

इतने मे जलयान रुका जयकार हुआ धरती पर
उतरा स्वयं हिमालय ज्योतिर्मय प्रभात-रवि-लेकर
जय विदेह, जय जनक-गूंजने लगा तुमुल कोलाहल
दर्शन की उत्सुकता के दृग से निकला करुणा जल

अभिनन्दन-अध्यक्ष वोलने लगे हार पहना के
दक्षिण की वदना समर्पित कर फिर शीश झुका के—

हे महान राजर्षि, दार्शनिक,
योगिराज हे उज्ज्वल
अर्पित करते तुम्हे आज
नर्मदा तापती के जल

हे सीता के पिता !
हमारे पास मौन है भाषा
अर्पित करते तुम्हे करोडो
द्राविड की अभिलाषा——

एक सूत्र मे बँधे प्राण-मन
एक धर्म के स्वर से
आर्यावर्त विशाल देश हो
नित सत-शिव-सुन्दर से

क्षमा करो हे महामनुज
जानकी - हरण-अपराध
दक्षिणात्य मे भरो हृदय का
पावन प्रेम अगाध

रश्मि दान दो द्राविड उर में
दो दर्शन की आशा
हे योगी सम्राट ! हमे दो
ज्योतिमयी जिज्ञासा

बल दो निज दीपित आत्मा का
दृग मे गगा जल दो

दो सयम की किरण
प्राण मे ज्ञानोदय निर्मलदो।

हे दर्शन-गिरि-शृङ्ग ! सिन्धु का
नमस्कार लो राजन्
दक्षिण हुआ पवित्र
तुम्हारे चरणो से ज्योतिर्जन !

स्वागत, वन की हरियाली से
स्वागत, तरु-पल्लव से
स्वागत हे सम्राट भिखारी
प्राणो के कलरव से

स्वागत नदियो से, निर्झर से
स्वागत वन फूलो से
स्वागत हे मानव महान
खग, मृग, परिमल-धूलो से

स्वीकृत करो महर्षि
करोड़ों द्राविड़ का अभिनंदन
बार-बार करते प्राणो से
हम चरणो के वंदन !

चाँदनी रात मे जलते है दीपक सहस्र इस मिट्टी के
विस्तृत निकुज के हरित मच पर बैठे है विभ्राट जनक
सब देख रहे नयनो मे श्रद्धा जल ले कर

गिरि-शिखर-श्रेणियाँ चारो ओर विहँसती है
हरियाली के ओसो पर किरणे चमक रही
जलते सहस्र जुगनू प्रदीप तरु-कुजो मे
अज्ञान-ज्ञान के मिलन पर्व-से छिप जाते, फिर जल जाते।

अभिनन्दन के उत्तर मे कहा जनक ने—हे दक्षिणी बन्धु!
उत्तर की महिमा दक्षिण से, दक्षिण की महिमा उत्तर से
नगराज हिमालय करता गर्व उदधि पर ही
औ' उदधि हिमालय के गीतो को सुनता है
जान्हवी सिन्धु औ' ब्रह्मपुत्र का प्रेम कहाँ झरता जाकर ?
दक्षिण-समुद्र कैलाश-शिखर के पानी को पीता प्रतिपल
दक्षिणी मलय-सगीत हिमालय तक जाता
विन्ध्याचल की गिरि-रेखा से यह देश बना था छिन्न-भिन्न
वह बन्धन भी हो गया मुक्त उस एक राम की यात्रा से
थी ऋषि अगस्त औ' परशुराम की दक्षिण-यात्रा योगपूर्ण।
मै देख रहा हूँ हे द्राविड!
उत्तर दक्षिण मे एक ज्योति ही जलती है
उत्तर दक्षिण का हृदय और मस्तिष्क एक-सा प्रभापूर्ण
दोनो मानव है दिव्य सभ्यता के गृह के
दोनो की भाषा मे सयम की शोभा है
दोनो के है सगीत, शास्त्र से अनुशासित
मै तो समुद्र की यात्रा करने आया था
पर मेरी यात्रा पूर्ण हुई इस धरती पर
मानवता जहाँ विचरती है वन-फूलो मे!
उत्तर ने पाया विष्णु-रूप, दक्षिण को शिव की शक्ति मिली
वह रावण अति मानव कितना बलशाली था

पर हाय मनुज को अहंकार खा जाता है
हे द्राविडगण !
मै इतना ही कहता हूँ जन-मन-प्राणो से—
श्रद्धा-शोभित ही बुद्धि ज्ञान अपनाती है
समता की करुणा प्रेम बाँटती प्राणों का
मानवता का आधार प्रेम है हे द्राविड !
मै योगी हूँ पर प्रेमयुक्त
हूँ एक दार्शनिक भी लेकिन प्रेमाश्रुपूर्ण
कहते है लोग विदेह मुझे
मै देह लिये आया हूँ या कि विदेह लिये ?
वासनामुक्त मानव को ही कहते विदेह !
यदि यह सच है, तो हूँ विदेह, पर प्रेम योग-साधना लिये
उन्मुक्त मनुजता का पावन उद्देश्य लिये !
ईश्वर की छाया है समस्त ससार स्वय
मानव इस जग का सब से ज्ञानी प्राणी है
मनुष्यत्व कही बन्धन मे भी रह सकता है ?
मानवता का दूसरा नाम है मुक्त प्रेम
है ज्ञान प्रेम के लिये, मुक्ति के लिये नही केवल द्राविड ।
दक्षिण भी प्रेम पुजारी है, यह ज्ञात मुझे
दक्षिण के प्राणो मे है उज्ज्वल सत्य छिपा
तब तो रावण के अहंकार को इसने त्याग दिया मन से'
औ' साथ दिया प्रेमानुरक्त उस एक राम के जीवन का !
दक्षिण मानव का मन्दिर है
है शक्ति यहाँ की प्रेममयी
है विष्णु-स्नात शिव की शोभा सयमित भाव-साधना लिये ।

सुनकर विदेह की ये बाते, गूंजे जग-गण मे महोच्चार
शखध्वनि भी हो उठी ध्वनित
अभिनन्दन के पश्चात हुआ नाटकारम्भ—

वन-प्रागण मे निर्मित है रगमच सुन्दर
है काष्ठ-भवन नव कला-चित्र से अति शोभित
पार्वती तपस्या करती प्रथम यवनिका पर
सुविशाल हिमालय की सुन्दरता अति रजित
दो साल और दो देवदारु भी दीख रहे
मृग-झुण्ड दूर वन-खण्डो म भी है ओझल
गिरि-रजत शिखर से हिम गल-गल कर पिघल रहा !

शखावलियो की ध्वनि गूंजी घण्टा के रव के सग-सग
औ' मुख्य यवनिका उठी, एक नट बोल उठा—
हो रहा नाट्य प्रारम्भ तुरत
'सीता वनवास'—चरित्र विमल

है जलप्रपात का एक दृश्य
वन-कुजो में सीता पति के सँग बैठी है
अलको मे शोभित पुष्प-गुच्छ
काषाय वस्त्र से आवृत तन
दो पछी उड कर वाम पार्श्व मे चले गये
दौडती हुई दो हिरणी भी छिप गईं तुरत
सीता सब को देखती रही उत्सुकता से
बजती है मधुर-मधुर वीणा
उठते है विविध वाद्य के स्वर धीरे-धीरे

ध्वनि हो जाती द्रुत मौन और फिर तनिक मुखर
सीता तोडती तीन कलियाँ अपने कर से
दे देती एक राम को भी
दो वेणी मे खोसती स्वयं
क्षण मे गिर जाती एक
उसे भी उठा हाथ मे रख लेती
सूंघती पुन: वह बार-बार !

सीता —
कहते थे सब मुझे—कोमले !
तुम वन मे मत जाओ
केवल वहाँ कष्ट है, दुख है
स्वामी के सँग जाने के हित मत इतना अकुलाओ !
(अति प्रसन्न से बोल उठी फिर)

किसे कहूँ प्रिय, वन-सा सुन्दर महल नही होता है
जगल के आँगन मे जग की सर्वोत्तम है शोभा !
(कह कर इतना लगी निरखने राम-रूप को दृग से)

राम—
कहती तो हो सत्य स्वामिनी !
वन के एक-एक पल्लव से लिपटाये है जीवन
मुकुल, फूल, कलियों पर होते है भावो के गुंजन !

सीता—
तुम भी तो कहते थे स्वामी ! जंगल मे मत जाओ
आज भला क्यो करते इसकी इतनी मधुर प्रशसा ?
(रुक कर बोली व्यग्यपूर्ण फिर !)

रोक रहे थे मुझे अवध में भय की परछाई से
पूछ रही हूँ आज तुम्ही से मै कैसे रह पाती ?

राम—

क्या तुम कही नहीं रह सकती मेरे बिना अकेली ?
आज्ञा दे देते यदि राजन्—राम अकेले जाओ
तो तुम क्या करती कल्याणी ! बतलाओ यह मुझसे
तब तो रहना ही पडता एकाकी राज-भवन मे !

सीता—

क्या कहते हो नाथ !
विमल कन्या हूँ मिथिलापुर की
पिता जनक ने दी है अनुभव की भी शिक्षा मुझको
ज्यो ही आज्ञा देते भूपति, मै उनसे कहवाती—
नर-नारी का मगल बन्धन पूर्ण प्रेम का जीवन
इसीलिये हे राजन्, मेरा जीवन है अधिकारी
सीता के पति वन जाते है, तो सीता जायेगी !
औ', नरेश मुझसे कह देते—देवि ! हर्ष से जाओ

(यह सुन कर हँस पडे राम)

राम—

बहुत चतुर हो प्राण वल्लभे ! कर्म-कुशल हो वनिते !
महा जनक से तुम्हे मिली है वेद-शास्त्र की शिक्षा
ऋषि, मुनियो ने दी है आकर तुम्हे धर्म की दीक्षा
मुझसे बढकर रहती हो तुम ज्ञान हृदय के घर मे
मै तो केवल युद्ध-ज्ञान से थोडा-सा परिचित हूँ
रक्षा कर लेता हूँ वन मे सदा तुम्हारे तन की ।

सीता—

नाथ ! न लज्जित करो मुझे तुम अति विनम्रता-स्वर से
तुम तो जो हो, सच कहती हूँ, इसे जानती मैं ही
तुम स्वदेश को उन्नत करने वाले हो अति मानव
तुम्हे देख कर डर जाते है वन के सारे दानव
धनुप-बाण मे बोल रही है धर्म-सत्य की आभा
साक्षी है सत्याग्नि तुहारे कर्मो का जीवन मे

राम—

बहुत हो गई प्रिये, बडाई
देखो सन्ध्या शोभा
धीरे-धीरे रवि ढलता है, पछी निज गृह जाते
मन को मोह रहा है वन की धुँधली सी हरियाली

(इगित कर नैपथ्य-दिशाको)

सानु-कुँज से देखो हिरणी जाती उधर उछलती
चली जा रही गगन-मार्ग से उड़ती शुभ्र वलाका
वह देखो उत्तराकाश से उमड रहे है बादल
हवा ढो रही निज पंखो पर श्यामल घोर घटाएँ !

सीता—

(विस्मय से बोली रुक-रुक कर)

एक बात बतलाओ स्वामी,
इसे आज कहती हूँ (उत्सुक राम देखते मुख को)
मैं बादल को देख-देख क्यों सिहर-सिहर जाती हूँ
उसे देख कर मन मे उठती एक पीर-सी केवल
चंचलता उठती है क्यो संयम से पूर्ण हृदय में ?

राम—

जीवन की सुधि आती मन मे देख-देख कर बादल
(रख कर एक हाथ कन्धे पर)
बादल के आँगन से बचपन अक्सर झाँका करता

सीता—

(अति प्रसन्न मुद्रा मे कहती)
सच कहते हो नाथ! मेघ मे मै खेला करती थी
लग जाती थी भीड सखी की मेरी अमराई मे
डबरो-गड्ढो की आडी पर हम करती थी क्रीडा
हमें नाचते देख नृत्य करती थी मोर-प्रिया भी
कभी-कभी तो स्वय पिता भी आकर कह जाते थे—
बन्द करो सीते! वर्षा मे अधिक खेल मत खेलो!
(रुक कर फिर बोली सहसा वह)

एक बार इतना ज्वर-ताप चढा कि हुई सुधि हीना
कितनी सेवा की थी माँ ने यह कैसे बतलाऊँ?
सचमुच माँ का ऋण कोई भी चुका नही सकता है
स्वर्गामृत से अधिक श्रेष्ठ है माता का पय निर्मल!
(पट परिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

घनघोर विपिन
सुनसान पथ
झझा-झोके
है विकल राम, पागल-समान है खुली जटा
क्रोधाकुल व्याकुल मुखमण्डल

करुणा-दृग में आँसू-कण भी
जानकी-हरण उपरान्त विरह की अग्निज्वाल
विरही का चंचल चित्र राम के जीवन पर
पीछे दाहिने पार्श्व में लक्ष्मण रोषपूर्ण, क्रोधावतार का रूप लिये
एकाकी केवल राम दर्शकों के सम्मुख
दुःखान्त स्वतः संवाद पूर्ण
वीणा का केवल एक तार बज रहा मन्द

राम—

तुम जब से हो गई दूर
मैं भूल गया सुधि तन की
भूल गया सुधि हे कल्याणी
हरे-भरे जीवन की !

अब अरण्य कितना सूना है
छाई है अँधियाली
कहाँ छिप गई हाय तिमिर में
रवि की मोहक लाली

बीते बारह वर्ष विहँसते
घोर-घोर जंगल में
तनिक कष्ट भी हुआ नहीं
आशा के स्वप्न विमल में

छाई आज राम के उर में

केवल एक उदासी
हाय लग रहा आज मुझे
मैं दुख-अरण्य का वासी

कहाँ गई, तुम कहाँ गई
ओ पर्ण-कुटी की रानी
कौन ले गया तुम्हे चुराकर
वह कितना अभिमानी

मृग की अभिलाषा मे किसकी
भरी हुई थी माया
किस पापी की, व्यग्र प्राण पर
पडती कलुषित छाया

ओ जघण्य निर्दयी ! रखोगे
कहाँ चुरा कर तन को
तन तो हर ले चले अरे
हर लोगे कैसे मन को ?

छूकर ही जल जाओगे तुम
अग्नि-पुज है सीता
नही जानते तुम अज्ञानी
सीता परम पुनीता

भर दी किस निष्ठुर ने मुझमे
आज क्रोध की ज्वाला
किसने स्वय पहन ली मद मे
ध्वस पुरुष की माला

पापी तुम्हें नष्ट कर देगी
सीता की चिनगारी !
इस धरती पर तुम न रहोगे
अब ओ अत्याचारी !

उडा दिये तुमने अनन्त में
आज कपट के वाण !
सच कहता हूँ अधम ! तुम्हारा
आया है अवसान !

लेकर जाऊँगा सीता को
वापस अपने साथ
जा न सकूँगा राजभवन मे
मैं अब खाली हाथ

हाय आज जीवन है कितना
द्रवित और सुनसान !
इस करुणा से मुझे बचाओ
हे अनन्त भगवान !

मुझे शक्ति दो दुख सहने की
दो मुझको नव ज्ञान
इस जीवन मे भरो, भरो हे
शत आँधी-तूफान !

मैं न रुकूँगा पर्ण कुटी मे
जाऊँगा उस ओर

जहाँ जानकी के प्राणों में
विप्लव करता शोर

लिपटी है मेरे जीवन से
सीता की परछाई
मेरे अन्तर मे उसकी ही
आत्मा की अरुणाई

कहाँ गई इस नन्दन वन की
ओ वसन्त-हरियाली !
आज विरह से काँप रही है
मन की डाली-डाली !

कौन करेगी नित प्रभात
फूलो से अब शृङ्गार !
कौन पिन्हायेगी मुझको
खिलते फूलो का हार !

कहाँ सुनूंगा-कहाँ सुनूंगा
अब मोहक झंकार !
कौन दिखायेगी रह-रह कर
निर्झरिणी की धार !

हिरणी को गोदी में लेकर
कौन करेगी खेल !
कौन करायेगी आपस मे
मृग-शावक का मेल !

अर्ध रात का चाँद
दिखाने वाली हे कल्याणी !
कहाँ सुनूंगा इस जंगल मे
अब मे शीतल वाणी !

राज महल को छोड हाय
आई थी तुम इस वन में
कलरव करती थी प्रतिपल तुम
मेरे नीरस मन मे

सफला नारी की परिभापा
दी तुमने इस जग मे
चली राम के सग वनो मे—
वन के कंटक मग मे

ओ विदेह की ज्योति ! अरी
मिथिला की ज्योतित सुपमा !
कैसे दूं मे तुम्हे शरद-शशि
आभा से भी उपमा !

ओ देवी प्राणो के गृह की
ओ, कल्पना-कुमारी !
तुमने कर दी दीपित
मेरे पथ की जंगल-झाड़ी !

किसी शत्रु के कपट-जाल से
बिछुड़ गई तुम वन मे

मेरे रहते कष्ट हो गया
तुम्हे हाय जीवन मे

चैन नही मुझको जीवन में
जब तक तुम्हे न पाऊँ
शान्ति कहाँ ? जब तक उस अरि को
यहाँ न मार गिराऊँ ! ....

इतने मे आँधी उठी एक वर्षा लेकर
भीषणता वन मे फैल गई हो गया बन्द अभिनय सहसा
हो गये मनुज सब छिन्न-भिन्न
दर्शक के लिये भवन था कोई बना नही
सब भीग गये मेघो के झरते फूलो से
राजर्षि जनक भीगते रहे सबके समान
वे रगमच पर जा न सके निर्देशक के भी कहने पर
बोले—मेरा तन भी भीगा औ' भीग गया मेरा मन भी
आर्यों से द्राविड नाट्य-कला मे उन्नत है
मै तो अवाक रह गया राम के अभिनय से
सीता स्वरूप से भी कुछ मिलती-जुलती थी ।

उस दाक्षिणात्य मे कर श्रद्धा का शिला-न्यास
सिंचित कर प्रेम-विशाल वृक्ष
शोभित कर मानव-विश्व-ज्योति
लौटे विदेह मिथिला मे शत जन गण-समेत
तब वृद्ध पुजारी ने पूछा—दक्षिण में क्या-क्या मिला नृपति ?
बोले विदेह मानव के दर्शन हुये वहाँ

सभ्यता मिली, साहित्य मिला औ' मिली कला की वाणी भी
देखा द्राविड़ का रंग-मंच, देखी द्राविड की भाषा भी
अभिव्यक्ति, नाट्य-भंगिमा, गीत-संगीत सभी कुछ सुन्दर है
भारती बीन पर वहाँ नारियाँ गाती है
कोमल-कंठों के उर्मिल स्वर साधनापूर्ण संयमित वहाँ
व्यवहार-कुशल मृदुभाषी जन, निर्मल पवित्र पुलकित नारी।
नारियाँ नही उन्नत होंगी तो मानवता मिट जायेगी
नारी-चरित्र से राष्ट्रोत्थान विजय पाता
नारी मानवता की धरती की पुण्य-ज्योति
है शक्ति-स्नात दक्षिण-दर्शन
द्राविड़ तो उन्नत मानव है !

वह वृद्ध हुआ सुनकर प्रसन्न
सोचने लगा-कितना विशाल सम्पूर्ण देश
ऊपर नगपति, नीचे समुद्र
कितना विस्तृत, कितना महान !

* * *

युग-युग के बाद पुकार उठ अन्तरतर की वेदना भरी
सम्पूर्ण देश मे महाशोक छा गया हाय
मिट्टी का युग-आलोक छिप गया मिट्टी मे
दिन में सूरज काँपने लगा, निशि मे शशि रोने लगा स्वयं
मारुत, सरिता, निर्झर ने बहना छोड दिया
काँपने लगे पर्वत-पहाड़ के सभी शिखर
तरु-लता-वल्लरी सिहर गई, रो पड़े फूल भी विवश हाय
कलियाँ भी खिल न सकी वन मे

उत्तर, दक्षिण, पूरब,पच्छिम, सब ओर छा गया सन्नाटा
सम्पूर्ण प्रकृति आकुल-व्याकुल
हो गया स्तब्ध सागर अनन्त
आकाश रो उठा एक बार
घिर गईं घटाएँ असमय मे
देखा निसर्ग ने स्वय मृत्यु की आँखो मे करुणाश्रु-विन्दु
विहगी ने उडना छोड दिया
हो गये मौन, कलरव-विहीन
योगी, महर्षि, ऋषि सब रोये
सन्यासी ने भी नयनो को धो लिया हाय
मानव तो रोता रहा गगन के सावन-सा
रोये समस्त द्राविड, समस्त प्रिय भक्त आर्य
रोये होगे देवता स्वर्ग के भी चुप-चुप
रोया होगा मानवता का भी घोर शत्रु
दानव भी रोया होगा निश्चय ही मन से
उस एक राम के लिये हाय मरणोपरान्त
जब प्राणो का पछी उड कर छुप गया स्वय
जब मिट्टी का आलोक ढल गया दिनमणि-सा।

मिथिला में भी आँसू की घटा उमड आई
कोलाहल एक हुआ प्राणो के क्रन्दन का
नयनो की नदियाँ सूख गईं रोते-रोते
पर हाय, जनक के जीवन मे क्यो निष्ठुरता
आँखो मे आँसू नही, प्राण मे कुछ भी कम्पन नही हाय,
हल्की-सी एक उदासी भी दीखती नही

पूछा अमात्य ने श्रद्धा से—"हे योगिराज !
पुरुषोत्तम राम विलीन हुये...।"
हँस पड़े विदेह इसे सुनकर
बोले—वे स्वयं सिधार गये तो रोना क्या ?
आँसू अकाल की वेला में रखते महत्व
मानव की सफल मृत्यु पर भी रोये मानव ?

उस महाकाल को भी तो कुछ समझाने दो
जिस दिन मानव हर्षित होगा पाकर सुमृत्यु
उस दिन से धरती का गौरव बढ़ जायेगा
देखो सूरज ढल रहा उधर धीरे-धीरे
चाँदनी तुरत फूटेगी मृदु मुस्कान लिये
घर-घर मे दीपक जल जायेगे एक बार
रोना तो उसके लिये जो कि असहाय स्वयं
रोगी बन कर मर जाता है।
धरती कहती है सब मनुष्य हों राम-सदृश
आदमी चाहता बने दास
दासता पतन है, महा पतन मानवता का
जिसको जितनी जिज्ञासा है वह उतनी दूर पहुँचता है
प्रेरणा नही जिस मानव मे वह लक्ष कहाँ तक पायेगा ?
मानवता कहती है मानव को चलो साथ
हे कोटि-कोटि जन-गण जीवन को दीप्त करो !
पर मानव रह जाता पथ में दुर्बलता की तम-छाया मे
तो दीप्त मनुष्य बने कैसे ?
उड़ गया राम का प्राण-विहग तो उडने दो
धरती को दो दूसरा राम, तीसरा राम

धरती तो मा है स्नेहमयी
चाहिये इसे शत ज्योति-पुत्र
शत ही क्यो सारे पुत्र ज्योति से पूर्ण बने
जिस दिन ऐसा होगा उस दिन
वह निराकार साकार बनेगा धरती पर
मानव उसके सँग दूर-दूर तक जायेगा ।

हे प्रिय अमात्य,
कहते हो तुम रोने को तो मै रोता हूँ
मै मानव हूँ मानव के सँग तो रोऊँगा
देखो ये अश्रु निकल आये ।

देखा उसने सचमुच आँखे है पिघल रही
सन्तोष हुआ मन-प्राणो को
रोये विदेह, पर वह अमात्य हँस रहा स्वय
औ' योगिराज ने उसे व्यग्य से देख लिया
उसने भी लज्जा से मस्तक को झुका लिया धीरे-धीरे ।



षोडश सर्ग

जलदान्धकार पर रात्रि-तिमिर करता ताण्डव
भीषण रव-घोषित दिग्दिगन्त आकाश, अवनि
औ' कभी-कभी विद्युत-चंचल विस्फोट, कड़क, गर्जन, तर्जन
शत नही, सहस्रो व्याघ्रों के हुँकारो से भी
अधिक-अधिक है महोच्चार ।
वर्षा की भीषणता भूतल पर वरस रही
वातास, प्रभजन, मारुत भू के विटप-गर्व को हिला रहे—
झकझोर रहे, है तोड रहे तरु-डालो को
तूफान, ववडर आँधी तीनो एक साथ तम मे विचरित
घन-खण्ड व्योम मे युद्धाकुल दिक्काल-शक्ति की छाया मे
हर-हर घर-घर जयघोष लिये सहार- सृजन दोनो दृग मे
प्रलयंकर के उस महानेत्र मे लीन प्रतिध्वनि की
सीमा मे हो विलीन
निस्सीम सृष्टि-साम्राज्य कल्पनातीत अलक्षित लक्ष्य-व्याप्त
—देखते विदेह प्रशान्त घोर तन्मयता की चिर निद्रा मे
जिसमे अनन्त जागरण कर रहा रश्मिदान
आह्वान आ रहे मन्द-मन्द मन-प्राणो से आत्मा लेकर
चेतना-ज्योति का कमल खिल रहा रक्त वर्ण
इस समय एक विश्वास सत्य को लिये दूर उड़ता जाता
जो काल-व्याल से लिपट खेलता चिन्तन मे

उस पार

या कि इस पार
अथवा दोनो के मध्य जहाँ है वर्तमान दोनो तट प्रतिपलछूता-सा
या यहाँ-वहाँ सर्वत्र
विभा-बाँसुरी बजाता मन्द-मन्द प्रति क्षण से भी द्रुत गति से नित
वह महाकाल विभ्राट सत्य का सूक्ष्म-रूप
जो तिमिर-ज्वाल-रथ पर अनन्त मे करता अविरल भ्रमण स्वय
चरणो के नीचे नाच रहा सम्पूर्ण विश्व
मस्तक पर जिसके पराशक्ति का मुकुट
सुचित्रित जिसमे ब्रह्म-महेश-विष्णु
जिनकी आत्मा से ध्वनित एक आलोक प्रखरतम ज्योति लिये
जो अलख, अगोचर अति से भी अति सूक्ष्म, सत्य
जो सब कुछ, कुछ भी नही, विवेचन मे विलीन
इतना अथाह, इतिहीन, असीमित वह विराट !
विज्ञान, ज्ञान, बल-बुद्धि नही छू सकी जिसे
विश्वास एक छूता जिसको शुद्धात्मशक्ति-साधना लिये
चेष्टा की नौका चली आ रही युग-युग से
भाषा मे बँधता नही कभी वह परा सत्य
परिभाषा बनती और बिगडती रहती है
आत्मा का अन्वेषण न कर्म मे उतर रहा !
श्रद्धा से अनुभव होता है सम्पूर्ण शक्ति
रे, बुद्धि नयन के पार नही जा सकती है
इसलिये भक्ति-अनुरक्ति
विरक्ति धरा से करते है योगी
पर धरा सृजन के जीवन का कर्मोन्मुखी क्रीडास्थल है।
यह ज्ञान और अनुभव की मिट्टी जीवन-ज्योति उगलती है।

दिक्काल-काल की छाया में
प्रति साँस मनुज की किरणमयी हो सकती है !

वह एक इंगित था तुम्हारे स्वप्न का
तारे उगे हे काल ! शून्याकाश मे
तुमको पता निर्माण क्या कैसे हुआ
पहले-पहल उस आदि सृजनोच्छ्वास मे

की देखने की कल्पना तुमने प्रथम
अनगिनत ज्योतित नेत्र ग्रह लक्षित हुये!
की देखने की कामना तुमने प्रथम
सब ओर तम के गृह तुरत दीपित हुये!

स्यात यह मार्त्तण्ड नभ के हास की
रश्मि से परिपूर्ण गति की कल्पना !
स्यात निर्मल स्निग्ध शीतल चन्द्रमा
मुस्कुराहट की विमल मृदु भावना !

हे अनन्त, विराट, आदिम देवता
इस निखिल ब्रह्माण्ड के तुम गान हो!
अग्नि, क्षिति, जल, पवन औ' आकाश के
शून्यमय गुंजित प्रथम आह्वान हो !

वायु निकली है तुम्हारी सांस से
और स्वर से भैरवी-सी रागिनी
चक्षु में छाई प्रथम काली घटा
जो बनी सागर-लहर उन्मादिनी !

गति तुम्हारी आदि और अनन्त है
गति तुम्हारी शिशिर और वसन्त है
पूर्ण माया में तुम्हारी सृष्टि का
जन्म-प्रतिमा-सग स्वप्निल अन्त है ।

कर तुम्हारे सष्टि से भी है बडे
एक मुट्ठी मे निखिल ससार है
ये दिशायें, लपलपाता सर्प-सा,
उँगलियो का ज्योतिमय विस्तार है ।

सप्त रगो से विनिर्मित किरणमय
भाल पर शोभित प्रदीप्त किरीटिनी
हँस रही निस्सीम उर की गोद से
चिर सुहासिनि मधुर माया मोहिनी ।

प्राण-प्राणी-कल्पना की सर्जना
प्रभु, तुम्हारे ब्रह्म-आदिम ज्ञान मे
हँस पडी करुणा विहँसती अश्रु ले
उसी प्रात स्वप्न की मुस्कान में ।

काल ! तुम हो सृष्टि के माता पिता
सत्य-शिव-सुन्दर परा के रूप है
है तुम्हारी प्रेरणा से चाँदनी
औ' तुम्हारी प्रेरणा से धूप है ।

प्रात औ' दिन, है पुरुषमय कल्पना
साँझ औ' निशि-नम्र नारी-भावना

प्रथम ज्वलिताङ्गार फिर शृंगार की
नित्य नूतन वन्दना, आराधना !

हे ! तुम्हारे प्रगति-रथ के चक्र में
नाचते नक्षत्र और खगोल हैं
रोम-कम्पन ही प्रबल तूफान हैं
चरण-कम्पन ही चपल भूडोल है !

काल ! तुमने की कृपा तो मिल गया
जन्म, जीवन, ज्वलित यौवन, जागरण
किन्तु जिस दिन कोप से तुम कँप उठे
मिल गया तन को मरण का आवरण

जन्म-वेला तुम सुखद वरदान हो
आयु के सम्मुख नियति-भगवान हो
मरण-वेला दैत्य, दानव, व्याघ्र ही
आह ! तुम कितने भयंकर प्राण हो !

कल्प-युग नववर्ष-ऋतु-दिन-मास ये
पृष्ठ हैं निस्सीम के इतिहास के
गूंजते संगीत प्रति क्षण व्योम में
एक साथ विकास और विनाश के !

प्राण-जीवन-फूल के नव हार से
नित्य करते तुम सजल शृंगार हो
कौन जाने कब पिया करते अमृत
किस समय खाते ज्वलित अंगार हो !

चिर पिपासित, क्षुधित, तृपित विराट हे
सृष्टि का कण-कण तुम्हारा खाद्यहै
बस महा निर्वाण ही तो विश्व का
लक्ष्य है, कल्याण है, आराध्य है।

मिट नही सकती तुम्हारी भूख प्रभु।
सृष्टि-भक्षण ही रहस्य-अगीत है
व्यग है निर्माण केवल प्रिय तुम्हारा
स्वप्न का अवसान ही तो प्रीत है।

एक कर मे है अमृत का पात्र, पर
एक कर से बाँटते विष ही यहाँ
है अमृत यो ही दिखाने के लिये
छोड तुमको कौन चिर जीवित कहाँ ?

आज है यह चन्द्रमा, फिर कल नही
क्या पता है सूर्य ही छिप जाय फिर
लुप्त हो जाय उदधि की कल्पना
क्या पता यह धरा ही हो जाय स्थिर

सत्य हो तुम कटु, कठोर, विहासमय
तुम बने हो मरण-पीडा के लिये
काल। तुम सुन्दर-असुन्दर स्वप्नमय
जीर्ण शीर्ण विनष्ट क्रीडा के लिये।

है तुम्हारी इन्द्रधनुषी कल्पना
हे स्वयभू महाकवि, वय-पालशाल हे

हे महा संगीत इति के आदि के
ब्रह्ममय हे व्याल-वाहन काल हे !

शंख-ध्वनि औ' चक्र का स्वर ही नहीं
गदा-गर्जन भी तुम्हारे साथ है
नाग की फुफकार प्राणों के निकट
भाग्य-लक्ष्मी भी तुम्हारे हाथ है ?

व्यंग्य से परिपूर्ण ही तो विश्व यह
प्रभु, तुम्हारे रूप का परमाणु है
एक उँगली पर निरंतर नाचता
अग्निमय आकुल अकेला भानु है !

बह रही प्रतिपल तुम्हारे स्रोत में
मरण से शोभित जगत की कल्पना
कामना के व्योम से नित उठ रही
मृत्यु-वीणा की प्रकम्पित गर्जना !

रक्त से रंजित सहस्रों हस्त से
प्राणियों की मर्म-रेखा रँग रहे
बन गये जो, मिट गये जो, टिक गये
कौन ऐसे स्वप्न की गणना करे ?

देवता, दानव, मनुज इस सृष्टि के
काल ! चरणों के तुम्हारे पास हैं
तुम मिलोगे एक दिन सबको निठुर
सत्य है, सबको अटल विश्वास है !

काल । तुम सगीत हो साहित्य हो
काल । तुम झकार हो झकार हो
साथ ही तुम प्रलय हो तूफान हो
काल । तुम हुकार हो हुकार हो

कर रहे श्रृङ्गार की भी कल्पना
कर रहे सहार की भी कल्पना
कर रहे तुम एक सँग ही सृष्टि मे
प्यार औ' हुकार की भी कल्पना ।

एक क्षण मे नव रसो के गीत की
ध्वनित शय्या पर विहँसती कामना
एक ही स्वर मे जनम औ' मृत्यु की
कर रहे हे काल प्रति क्षण गर्जना !

तिमिर-माया के महा विस्तार मे
हास-रोदन के दिवस है रात है
विकल छाया के गगन-विस्तार में
अश्रु औ' मुस्कान सध्या-प्रात है ।

खगी-इच्छा के सहस्रो पख है
पख मे अति शक्ति है तूफान है
एक भी कण है नही इस विश्व में
जो तुम्हारे नेत्र से अनजान है ।

दूरदर्शी हे । तुम्हे जय-विजय-क्षय
एक पल से पूर्व ही तो ज्ञात है

सृष्टि का कण-कण तुम्हारे सामने
प्रश्न के सम्मुख मरण की बात है !

विश्व के सम्राट, हे विभ्राट, तुम
मृत्यु के संगीत मे ही लीन हो
आदि, अन्त, असीम, सीमा-स्वप्न के
स्वय अपने आप मे स्वाधीन हो !

हृदय मे है ध्यानमग्ना-शारदा
ब्रह्म है मस्तिष्क के उदगार मे
पूजती है चरण को सम्पत्ति-श्री
व्याप्त है शिव स्वप्न-सृजनागार मे !

काल ! तुम निस्सीम चिर-साहित्य हो
प्रभु, तुम्हारे शब्द मे भी रूप है
रूप ही क्यों ? रग-रजित गान है
छन्द मे स्वच्छन्द स्वप्न-स्वरूप है !

रूप-माया-सिन्धु अगम अथाह है
लहर-दर्शन ही नयन की तृप्ति है
ज्ञान-शशि जब झाँकता आकाश से
ज्वार भाटा मे हृदय-अनुरक्ति है !

तुम सभी विध्वस के आह्वान हो
तुम सभी निर्माण के वरदान हो
तुम जगत के जन्म के भी गान हो
तुम महाप्रस्थान के उपमान हो !

यह काल-चिन्तना-बीन सो गई मन्द-मन्द
वर्षा भी हुई समाप्त स्वय धीरे-धीरे
धो दिया चाँदनी ने नभ को
निज सुन्दरता के पानी से
निर्मलता का सगीत गगन मे गूँज उठा
तब एक पुकार उठी मन मे—

कलाकार ! तुमने मनुष्य को
दी केवल जिज्ञासा
पर मानव ने स्वय बना ली
मानव की परिभाषा !

मानवता है वही, प्रकृति का
मनन करे जो मन मे
ढूँढे अन्तिम सत्य न्याय से
मानव के जीवन मे

जीवन वह जो स्वय मरण को
हँस कर ही अपना ले
मिट्टी पर रह कर अनन्त की
ज्योति एक भी पाले !

ज्ञान आत्म-सन्धान मनुज का
बुद्धि तर्क की ज्वाला
प्रेम हृदय की शीतलता है
सत्य स्वय उजियाला !

कर्म मनुज का प्रमुख धर्म
संघर्ष यही जीवन का
यही प्रवल साधना सुविकसित
धरती के आँगन का

कर्म नहीं जिसके जीवन मे
वह न सत्य का ज्ञानी
वुद्धिमान वह मनुज, कर्म का
जो न्यायी अभिमानी

खिलता जब कर्त्तव्य-कमल
रश्मियाँ ज्योति की आती
उगता है जब चाँद गगन मे
तभी चाँदनी गाती !

वुद्धि-गान इसलिये कि ये
सत्कर्म-प्रेरणा जग मे
जो विवेक से हीन वही
रुकता जीवन के मग मे !

तिमिर विश्व का प्रश्न
ज्योति है केवल जिसका उत्तर
वही मनुष्य महान कि जिसका
अन्तर तर है सुन्दर !

तिमिर-गरल जो पी न सका
वह रश्मि-सुधा न पियेगा

डरता है जो महामृत्यु से
वह क्या यहाँ जियेगा ?

ज्ञात नही जिसको अशान्ति
वह शान्ति कहाँ से पाये
सत्य नही जिसको प्रिय, कैसे
वह सघर्ष मचाये ।

मानव के प्रश्नो के उत्तर
मानव के ही मन मे
है मनुष्य का सत्य छिपा
मानव के ही जीवन में

जीवन-दर्शन यही कि मानव
रहे सत्य के घर मे
सुन्दरता है वही विमल
जो रहे स्वय सुन्दर मे

वह भी क्या है स्वर्ग
जहाँ पडती न सत्य की छाया
सत्य ढूंढने के हित ही तो
बनी विश्व में माया ।

मानव नही जो कि वैभव की
शय्या पर नित सोये
मिथ्या है वह वल जो केवल
भार तिमिर का ढोये

अन्यायी वह राज्य जहाँ
सुख की न चाँदनी छाई
फैली नही बुद्धि की किरणे
लिये प्रेम-परछाईं

विद्याहीन मनुष्य हाय
मानवता का रोगी है
योगी वही जगत मे जो
निर्मलता का भोगी है ।

वही मित्र जो मनन करे
जीवन की सच्चाई का
तम को दूर करे ले दीपक
आशा-अरुणाई का

जले निराशा के मस्तक पर
वही मनुज की आशा
ले जाये जो दूर लक्ष्य तक
वही प्राण-अभिलाषा ।

रहता है जो सदा भाग्य पर
वह नर एक अधूरा
वह न करेगा कभी काम को
इस धरती पर पूरा

गढ़ती है दीनता भाग्य से
भरी हुई जिज्ञासा

भाग्यवान तो वही, भाग्य की,
जो न समझता भाषा ।

कहने से पहले जो करता कर्म
कठिन जीवन मे
सयमशील महा साधक है
वह सघर्ष-भवन मे

किन्तु बिना समझे ही जो
करता है कर्म जगत मे
हो जाता है पतन उसी का
अहकार के पथ मे ।

जीवन पर क्या गर्व ? मनुज को
यश मिलता कर्मों पर
बल वैभव का यशी
दौडता केवल क्षणिक लहर पर

मानव का अभिमान स्वय
मानव को खा जाता है
करता है जो क्रोध, कभी भी
शान्ति नही पाता है

सेवा एक तपस्या, है
दासता एक दुर्बलता
त्याग महा आदर्श एक
है प्रेम प्राण-निर्मलता ।

विदेह

प्रभुता तो अन्याय स्वय
है शक्ति न्याय का स्रष्टा
ढोता है जो सत्य प्राण पर
वही मनुज का द्रष्टा !

बलिदानी तो वही, सत्य पर
जो है शीश चढाता
रक्त-स्नान करता जोवन मे
आँसू नही बहाता !

बन्धु वही जो प्रेम, त्याग से
करे पवित्र हृदय को
भ्राता की ही विजय-हेतु
वह रोके अपनी जय को !

भाई वह जो अनुज प्रेम को
श्रद्धा से अपनाये
करुणा, स्नेह और ममता से
प्रतिपल गले लगाये

मा की परिभापा, मनुष्यता
की सच्ची परिभापा
जितनी निर्मल माता जग मे
उतनी निर्मल भापा !

भाई प्रेम, वहन करुणा है
सरिता के दो तीरे

भाग्यवान तो वही, भाग्य की,
जो न समझता भाषा ।

कहने से पहले जो करता कर्म
कठिन जीवन मे
सयमशील महा साधक है
वह सघर्ष-भवन मे

किन्तु बिना समझे ही जो
करता है कर्म जगत मे
हो जाता है पतन उसी का
अहकार के पथ मे ।

जीवन पर क्या गर्व ? मनुज को
यश मिलता कर्मों पर
बल वैभव का यशी
दौडता केवल क्षणिक लहर पर

मानव का अभिमान स्वय
मानव को खा जाता है
करता है जो क्रोध, कभी भी
शान्ति नही पाता है

सेवा एक तपस्या, है
दासता एक दुर्बलता
त्याग महा आदर्श एक
है प्रेम प्राण-निर्मलता ।

प्रभुता तो अन्याय स्वयं
है शक्ति न्याय का स्रष्टा
ढोता है जो सत्य प्राण पर
वही मनुज का द्रष्टा !

बलिदानी तो वही, सत्य पर
जो है शीश चढाता
रक्त-स्नान करता जीवन में
आँसू नही वहाता !

बन्धु वही जो प्रेम, त्याग से
करे पवित्र हृदय को
भ्राता की ही विजय-हेतु
वह रोके अपनी जय को !

भाई वह जो अनुज प्रेम को
श्रद्धा से अपनाये
करुणा, स्नेह और ममता से
प्रतिपल गले लगाये

मा की परिभाषा, मनुष्यता
की सच्ची परिभाषा
जितनी निर्मल माता जग मे
उतनी निर्मल भाषा !

भाई प्रेम, वहन करुणा है
सरिता के दो तीरे

या श्रद्धा के मन-प्राणो के
दो आँसू के हीरे

यह सारा ससार एक
परिवार समान सुशोभित
मानवता की एक बीन के
सभी तार हैं झकृत

दानव को मानव बनने का
दे हम सदा निमत्रण
ज्ञान, कर्म, आशा लेकर हम
मुक्त करे यह वह बन्धन

युद्ध न बन्धन तोड सकेगा
कभी विकल धरती का
भले उडा ले क्षणिक काल तक
जग मे कीर्ति-पताका ।

शान्ति सत्य से और प्रेम से
ही मिलती जीवन मे
यह सघर्ष जगाना होगा
पहले मानव मन में

मन मे यदि है जलन
कर्म से शान्ति नही आ सकती
बिना प्रेम से अन्तर की
ईर्ष्या न कभी जा सकती

मानव यदि मानव हो जाये
युद्ध न यहाँ उठेगा
मानव जब तक उग्र-दनुज है
युद्ध न कभी रुकेगा ।

जीवन में आते प्रात, और संध्या लेकर होते विलीन
जीवन मे आते दिवस, रात के सग लुप्त हो जाते फिर
पर नित नूतन बाते उठती रहती मन मे
अनुभूति, ज्ञान के दीपक प्रति दिन जलते है ।
उगते तारे भी कहते है जग की बाते
रवि-शशि भी बिखराते विचार
चाँदनी. किरण औ' हवा सभी कुछ कहती है
पर सबसे अधिक कहा करते केवल मानव
स्वर, शब्द, गीत, भाषा की तरल तरगो पर
कल्पना, भावना, तर्क, सभी कुछ गाते है
मिट्टी की मूर्ति बनाते है रँग देते है
वीणा के सातो तार बजाते उँगली मे
सोचते सभी कुछ अपने-अपने ही ढंग से
पर सत्य एक है महाज्वलित
—कहते विदेह उस ऋषि से जो है अतिथि आज
उस पर्णकुटी मे जहाँ चिन्तना होती है
कुछ लोग गाँव के भी बैठे है इधर-उधर
सुनते विदेह की मृदु वाणी—
है ग्राम तपोवन की शोभा
सादगी यहाँ की सुन्दरता

वे तीर्थाटन मे गये हुये थे दूर-दूर ।
तब से मेरी है दृष्टि गाँव पर लगी हुई
मै स्वय गाँव मे जाता हूँ, जब शेष रात छुप जाती है
उस समय हवा कहती मुझसे—
"है गाँव कर्म मे लीन तपोवन-स्वर्ग स्वय"
उस दिन आये थे लोग मगध से पैदल ही
कहते थे मुझसे चलने को गगा-तट पर
था यज्ञ हो रहा वहाँ एक
मैने था कहा कि—तुम सहस्र जब पेड लगा दोगे नूतन
अमरूद, आम औ' कटहल के
तब एक यज्ञ मै स्वय करूँगा उसी जगह
कल मिला मुझे सम्वाद कि तरु लग गये सभी
कार्तिक में ही मै जाऊँगा ।
उस पार कुसुमपुर मे भी जाना है मुझको
सुनता हूँ पडना चाह रहा दुर्भिक्ष वहाँ ।



सप्तदश सर्ग

उतरा वसन्त सुविशाल हिमालय-आँगन मे
द्रुम-दल की नूतन पल्लविनी शृ गार कर रही फूलो से
फूलो के गुच्छे डाल-डाल पर लटक रहे
मारुत की कन्या विचर रही वन-कुंजों मे
ऋतुपति की वनिता सुन्दरता परिमल की वंशी बजा रही
चादनी रात मे कूक रही कोकिला एक उस डाली पर
जिस पर अनंग बैठा-बैठा पी रहा सुरभि का सुरा मत्त
कुसुमो की शय्या पर अनगिनी सोई है
अलको पर ज्योत्स्ना कभी-कभी आ जाती है---
उस झुरमुट के वातायन से जो देव-दारु-तरु मे शोभित
कामाकुल नव कामना वक्ष को निरावरण कर देती है
जब वासन्ती हिलकोर मन्द मद भरी उँगलियों से चुपके
गालो पर थपकी दे देती धीरे-धीरे चुम्बन-समान
होठों पर भी गुदगुदा रहा झकझोर एक
लहरा जाते कुछ केश कल्पनामय मुख पर
औ' कभी-कभी आँखे भी थोड़ी खुल जाती
औ' कभी-कभी पलको को सपने छू देते
उस समय देखता है अनग निज प्रिया-रूप
कहता है अपने मन मे ही---मेरी वनिता उर्वशी स्वय !
वह गर्वाकुल हो रहा आज
कहता समीर से खोल पंख---

मैं इन्द्रलोक में जाऊँगा
उर्वशी आज आयेगी मेरे आँगन मे
वह जायेगी मिथिला मे सुन्दरता लेकर
लेकिन विदेह से लज्जित होकर आयेगी
थक गया स्वय मैं ही उससे
वह हिला नही, पी गया मुझे ही एक बार
औ' साँसो से मैं निकल गया
मैं कितनी बार गया लेकिन वह उसी तरह सयमाधीन
प्रेमानुरक्त ही सयमशील महामानव,
बैठा है शिव-कल्पना तपस्या-साधन मे।

पश्चिमी शिखर को पार कर गया वह अनग
मिल गई उर्वशी मानसरोवर के तट पर
दो पुष्पित वल्लरियाँ है झुकी हुई अपने—
मधुमत्ताकुल सौन्दर्य-भार से धरती पर
नर्त्तकी बीनने लगी कुञ्ज मे प्रिय मोती
जो हार टूटने से सहसा है बिखर गये
चुनता अनग भी जिन्हे साल के पत्ते मे
खोजती अनगिनि इतने में आ गई वहाँ
कोमल कर मे कोकिला लिये जो कूक रही थी वहा अभी
उर्वशी विहँसने लगी विहग को देख-देख
खिल-खिला उठी चाँदनी भरी उस रजनी में
दाँतो से बिजली चमक उठी सब के सम्मुख
तब उस अनग ने कहा—"उर्वशी सुन्दरतम !"
कहते ही यह, उर्वशी उसे देखने लगी दोनो दृग से
मदिरा की मोहक मस्ती मे कोमल सुवक्ष मे भर साँसे

उन्नत उरोज मे ले इगित यौवन के उठते ज्वारो के !

आया वसन्त पिछले पथ से
औ' घेर लिया उसको कर से
निज भुजा-पाश मे बाँध लिया उस नारी को
होठों पर जागा प्यार एक धीरे-धीरे
नयनों से निकली एक हँसी जिसको सुनकर
मुख से भी निकला—"छोड़ो ना,
मुझको मिथिला तक जाना है !"
आकुल वसन्त ने कहा—स्वर्ग से आई हो इस धरती पर
ऐसे कैसे जाओगी वापस हे हृदये !
कुछ फूल यहाँ के भी देखो
कुसुमित कितनी तलहती यहाँ
फूलों का यह साम्राज्य स्वर्ग मे वहाँ कहाँ
यह रंग-बिरगे गुच्छ-गुच्छ है फूल स्वर्ग से सुन्दर हो !
है स्वर्ग एक एकान्त विपिन
देवता नग्न रहते जिसमे
पीते है अमृतानन्द सदा
करते है क्रीडा सुख के ही
तुम गाती हो उनके सम्मुख वीणा लेकर
करती हो केवल मत्त नृत्य उन्मादपूर्ण
इतना ही तो ?

यह धरती है
नव रस की गागर भरी यहाँ
सब स्वप्न विरोधाभास पूर्ण

आलोक-तिमिर के खेल चमत्कृत होते हे
मेनका यहाँ पर आई थी मुझसे मिलने
वह प्रिय शकुन्तला को जगल मे छोड गई
मानव ने उसे सँवार लिया
प्राणो का प्रिय शृङ्गार दिया
मुद्रिका प्रेम की देकर हिय का हार दिया
यह 'भारत' उसकी स्मृति का ही तो प्रेम-शब्द
है स्वर्ग और भारत का प्रिय सम्बन्ध प्रबल
यह नही भुलाया जा सकता है कभी यहाँ
तुम आई हो धरती पर, कुछ लेकर जाओ
उसमे भी, आया है वसन्त मोहकता का साम्राज्य लिए
तुम घिरी हुई हो फूलो से, मदिरामय मत्त समीरण से
जब पूछे इन्द्र, उसे कहना—
"अब पृथ्वी पर ही चलो प्राण !
धरती की शोभा अलका से है बढी हुई !"
कोमल वसन्त के आते ही छिप गई अनगिन पति-समेत
भुज-वल्लरियो मे बँधी हुई उर्वशी अभी
भारत-वसन्त को देख रही अधखुले नयन से बार-बार
अलको मे समोहन के नीले फूल खिले
जिनको वसन्त ने तोड लिया चचल कर से
औ' देख लिया दोनो आँखो के जादू को
दोनो हाथो से हिला स्कध को बार-बार
जिन पर नीलम-कर्णाभूषण है लटक रहे !

मिथिला का राजद्वार भव्य

प्रासाद भव्य
औ' शयन-कक्ष भी मनमोहक अति आकर्षक
लुक-छुप कर अति उत्सुकता से---कौतूहल मे
उर्वशी देखती इधर-उधर उत्तेजित हिरणी आँखो से
है शून्य कक्ष एकान्त, शान्त जिसमे त्रिदेह रहते हैं कभी-कभी
निशि मे
प्रहरी को छल की सुरा पिला उर्वशी महल मे चली गई
पर ज्ञात हुआ, कोई न यहाँ
सब मना रहे है कुसुमोत्सव उपवन के नूतन आँगन मे
वह गई वहाँ
कुसुमित अशोक-तरु-पंक्ति-आड मे ही छिप कर
देखती नवीनोत्सव-तरग
हो रहे नृत्य उल्लास-हास
जिस तरह डालियाँ झूल रही, उस तरह सभी है झूम रहे
फूलो की पखडियो को उडा रहे रह-रह,
छीटते सुरभि से युक्त नीर
बजते मृदग, बजती वीणा
जिनकी गति पर नूपुर गुजित, किंकिणी ध्वनित,
बज रही वेणु मृदु मन्द-मन्द
हो रही व्याप्त अति तरल तान
औ' कभी-कभी शखादि सुघोषित हो जाते
जब अति उद्वेलित ताल-शिखर सम के समुद्र मे उठते है
सगीत-ज्वार से सातो सुर जब टकरा जाते एक बार
उस समय सभी के कर उठ जाते है ऊपर
हर्षित ध्वनि मे आनन्द एक होता नर्त्तित

हिल्लोलित कानन की शोभा करती है ज्योत्स्ना-स्नान मुग्ध
डुबकियाँ लगाती है कलियाँ, डुबकियाँ लगाते मत्त फूल
तैरती सुरभि चचल समीर की लहरो पर
चाँदनी-सिन्धु कितना अथाह
उर्वशी कह रही मन-ही-मन---यह स्वर्गोत्सव
यदि कर दूँ मै प्रिय नृत्य एक, फिर क्या कहना,
धरती पर स्वर्ग उतर आए !
पर एक प्रश्न अचरज का यह
है जनकराज कैसे विदेह
कामान्ध कल्पना मे विभोर हो रहे स्वय
उन्मादपूर्ण है अग-अग
है मदिर नयन
जीवन मे यौवन का प्रभाव
वासना-प्रभा से दीप्त मुखर बेसुध शरीर
चेतनाहीन उल्लसित बुद्धि
जिस तरह इन्द्र रहते अपने सिहासन पर
गिर जाता है वह राज-मुकुट भी कभी-कभी
तब मै ही स्वय पिन्हाती हूँ---
घुँघराले काले केश-सुशोभित मस्तक को सहला देती हूँ
उँगली से !
मै करूँ नृत्य ?
लेकिन इससे अपमान स्वर्ग का ही होगा
इन्द्राज्ञा से आई हूँ मै देखने धरा
पर प्राणो मे है एक भावना छुपी हुई---
भावना एक---जिसमे लपेट लूँ ज्वाला को

भावना एक—जिसमे विदेह को ही बाँधूँ
कस लूँ योगी को, ऋषि को, मिथिलापति को भुजा-
लताओं मे
औ' एक बार · कर दूँ परास्त सुन्दरता से
सगीत-नृत्य की छाया मे एकान्त किसी निर्जन गृह मे !
देवता कह रहे थे उस दिन
है जनक योग मे लीन सदा युग-युग से जीवन-ज्योति लिये
अप्सरा नही छू सकती है मन प्राणों को
इतनी उन्नत है आत्म-शक्ति
इतना प्रज्वलित समस्त ज्ञान !

कुश की शय्या पर शयन-कक्ष मे योगिराज लेटे-लेटे
प्रहरी को कहते उसे भेजदो इसी जगह
वह आई एक लहर लेकर
सुन्दरता की पूर्णिमा लिये
भावना-ज्वार भी लिये सग
आते ही बैठ गई भू पर पागल परिमल की गध लिये !
नयनों मे नारी—तेज लिये !
बोले विदेह—"तुमतो लगती उर्वशी-सदृश
कितनी सुन्दर हो तुम देवी !"
तब मन-ही-मन सोचने लगी वह स्वय तनिक—
उर्वशी ? गर्व-गरिमा-मडित,
जिसका प्रभाव योगी पर भी
तो साफ-साफ ही क्यो न कहूँ
मैं वही उर्वशी स्वर्ग-परी

पर कैसे कह दूँ अभी हाय, मैंने तो झूठ कहा नृप से—
गन्धर्व देश की कन्या हूँ
आई हूँ दीक्षा लेने इस रजनी की आधी वेला मे !
लेकिन सच कहने मे भी आपत्ति नही
कहदूँ, मै हूँ उर्वशी स्वय
आई हूँ नृत्य-प्रदर्शन में चुपके-चुपके
आई हूँ दर्शन करने को हे देव, अकेली इसी समय !

सौन्दर्य-हासिनी पकड रही है सत्य-विटप-लज्जित डाली
चढ कर असत्य के टीले पर
औ' इसी समय कहते विदेह—डाली के फूल न तोडो तुम,
सुकुमार सुकलिका रो देगी
छू देगा पाप तुम्हे चुपके
पूछती नर्त्तकी विस्मय से—"यह पाप कौन ?
कोई राक्षस है क्या भू का ?
"राक्षस !" सुन कर खिलखिला उठे
उर्वशी मौन आश्चर्यपूर्ण देखती जनक की आँखो को

बोले विदेह—
"है पाप सत्य का महाशत्रु
यह है असत्य का उग्र पिता
जो मानव को करता दुर्बल है आत्मा से
जिससे चरित्र मे लगे कलक उसी मे पाप चमकता है !
सत्यानुकूल कर्त्तव्य चरित्र बनाता है
इसलिए सत्य ही पुण्य मनुजता के गृह मे
औ' सत्य ?

न्याय का पिता स्वयं ।
औ' न्याय ?
एक समताधिकार
अधिकार ?
सहज है शक्ति एक
औ' शक्ति ?
प्रकृति-प्रेरणा स्वय
प्रेरणा ! प्राण की ही पुकार
औ' प्राण ।
ज्योति का पवन एक
है पच-तत्व-निर्मित जीवन !
उर्वशी सोचती रही, समझती रही वचन
औ' तब विदेह ने कहा—देवि अब नाचो तुम
तुम स्वर्गपुरी से आई हो इस भूतल पर
क्या खाओगी ?
मैं खीर खिला सकता तुमको ।
यदि आम्र-काल रहता तो अति पुलकित होती
है अमृत स्वर्ग मे, आम्र नही
तुम आ जाना उस समय कभी
इस समय टिकोले गिरते हैं''
मोहिनी उर्वशी मुग्ध हुई सुन मृदु वाणी
इच्छानुकुल खा कर वह हुई प्रसन्नवदन
कुछ हुई प्रभावित भी मानव के भावो से
कह उठी—प्रेम ही जीवन है इस धरती पर
बोले विदेह—निश्चय देवी !

है प्रेम-योग सब योगो मे श्रद्धानुरक्त
मैं इसी प्रेम के लिये तपस्या करता हूँ मानव-वन मे,
मानवता भी है इसी प्रेम से प्रभापूर्ण
यदि प्रेम नही रह जाय यहाँ
हो जाय तिमिर से पूर्ण धरा
सम्पूर्ण विश्व का सिहासन भी छोटा है प्रिय प्रेम-निकट
थे भरत-राम के बन्धु स्वय साकार प्रेम
ईर्ष्याकुल मा ने दिया उन्हे भी सिहासन
तज दिया उन्होने उसे प्रेम की छाया मे
हो गये स्वय योगी भ्राता-स्मृति के गृह मे !
उर्वशी साँस छोडती हुई बोली—यह तो है ज्ञात मुझे
फिर कहा जनक ने—प्रेम त्याग मे पलता है
है त्याग मनुजता की शोभा
मानव का चरमादर्श एक
आदर्श वही, जिससे मनुष्य पावन बनता
जीवन-पवित्रता वही कि जिसमे सत्य रहे प्रेमाश्रु लिये

उर्वशी चाहती थी नाचना मदिर-गति से
वासना-ताल पर पायल बजने वाली थी
पर बजे प्रेम-नूपुर केवल
हो गई कला प्रस्फुटित सत्य-अरुणोदय में
उर्वशी देखती रही जनक की दो आँखे आलोकपूर्ण
वह समझ गई कितने महान मानव विदेह
ढल रही यामिनी मन्द-मन्द
बढ रहे उधर स्वच्छन्द चरण

खोलती हुई गति की पाँखें देखा
विदेह को उसने अन्तिम बार तनिक
जो खड़े हुयें हैं बाह्य द्वार पर जहाँ पिकी
कहती है पिक से भोर हो गया उठो- उठो
पीले-पीले अमरूदों पर सुग्गों के दल चहचहा रहे !



अष्टदश सर्ग

हे जनक ! तुम्हे धरती इतनी क्यो है पसन्द
मिट्टी से इतना मोह तुम्हे क्यो हे योगी
जीवन से इतनी ममता क्यों हे प्रिय विदेह
तुम युग-युगान्त तक रहे मनुजता के भोगी !
राजर्षि ! भोग मे योग करोगे यों कब तक
पूछती मृत्यु आकर जीवन मे बार-बार
औ' पुन. लौट जाती चरणो को कर प्रणाम
टकरा जाती है काल-चक्र से यह पुकार !
फिर वह कहती—
हे योगिराज सम्राट !
ज्ञात है तुम्हे सृष्टि का ज्ञान
सर्व योगानुरक्त ये प्राण
आत्म ने किया सत्य-संधान
तुम्हे अवगत है जीवन-भेद
ज्ञात है जन्म-मरण के परिच्छेद
है ज्ञात ज्ञान, अभिमान, मान, यश-अपयश से शोभित जीवन
है ज्ञात तुम्हे आँधी, तूफान, बवडर से गर्वित यौवन
सब-कुछ देखा तुमने राजन्
धरती पर रह कर धरती का सब-कुछ देखा है ज्योतिर्जन
तुम वाल्मीकि से व्यास काल तक के साक्षी
इतिहास विभा के प्राणों में है तुम्हे छुपाये हे विदेह

है झुका तुम्हारे किरण-चरण पर स्वय सत्य
योगेश्वर के प्राणो पर भी प्रतिविम्ब तुम्हारा पडता है
हो स्वय हिमालय-शिखर साधना के योगी हे महा जनक
सीता के स्रष्टा ! तुम्हे ज्ञात है सृजन-सत्य
है ज्ञात तुम्हे सहार-कल्पना की क्रीडा
तुम जान चुके हो धरा मनुज का कला-कुज
है मजुमयी प्रिय प्राण- प्रकृति, चित्रित निकुज है प्रेम युक्त
जो अनुभव होता यहाँ, कही होता न और
भू के समान नभ मे कोई है नही ठौर
सुख म भी दुख
दुख मे भी सुख
है विरह मिलन मे और मिलन मे विरह यहाँ
हे जनक ! ज्ञात है तुम्हे योग-बल से समस्त
प्राणो को मृत्यु उठा रख देती कहाँ-कहाँ !
ये प्राण ? पवन-से एक बार उड जाते है !
मानव का सारा अहकार गिर जाता है
ये प्राण ? न जाने कहाँ निकल कर जाते है
मानव का गर्व इन्हे भी पकड न पाता है
जीवन रे किसकी व्यग-सृष्टि !
यह भी तो एक पहेली है
मानव की जिज्ञासा रह जाती मन मे ही
जीवन की हवा निकल जाती जर्जर तन से
आदमी कहाँ तक ढूँढ सकेगा इस जग को
सीमा का एक प्रदीप जलाती हूँ मै ही !
सोचती मृत्यु——

इसलिए योग-साधना एक अनिवार्य कर्म
पर भोग ? जनक के जीवन मे यह जटिल प्रश्न—
उत्तर देता है स्वय—गहन अनुभूति-हेतु
तो योग-भोग-मिश्रित ही यह जीवन विराट ?
आश्रित इस पर है मनुज देह ?
इतना ही केवल नही जनक तुम हो विदेह !
तुम हो विदेह—कहने में कितना सहज वाक्य
तुम हो "विदेह"—सुनने मे भी लगता कोमल
पर यह 'विदेह'–बस एक शब्द कितना महान, कितना कठोर, कितना कोमल
केवल 'विदेह' ही महाकाव्य
सम्पूर्ण सृष्टि का ज्वलित सत्य
केवल 'विदेह' भू का रहस्य
आकाश, नीलिमा, चन्द्र, सूर्य,
जाना विदेह ने धरती को, वह भूतल है
जाना विदेह ने अम्बर को, वह अम्बर है
ससार ! तुम्हारे आँगन मे कोई भी ऐसा हुआ कही
जो योग-भोग मे लीन किन्तु फिर भी वह सीमा हीन मुक्त ?
आदमी चाहता—मुक्ति मरण के वाद किन्तु
चाही विदेह ने मुक्ति कर्म मे हो विलीन
जीवन मे ही वह मुक्त रहा योगानुरक्त शुद्धात्मा से
यह एक कठिनतम कार्य, कल्पना जहां मौन
ऐसी साधना हुई जनक के जीवन मे !
हे चिर विदेह !
तुम स्वय मुक्ति मे लीन, मुक्ति से दूर-दूर

जीवन-बन्धन के बन्धन हीन ज्वलित योगी
अनुरक्ति-विरक्तिमयी प्रतिमा से भी पवित्र
तुम राग-विराग-भरा जीवन का ज्योति-पात्र
तुम देख रहे, मानव के वन मे भी आती है षट् ऋतुएँ—
लेकर असाढ की घटा घोर
सावन के घन-झकझोर—
विकल भादो के बादल की हिलोर
आसिन-कातिक की स्निग्ध चाँदनी की शोभा
पावस की मेघमयी राते
फिर शरद-सौम्यता की बाते
हेमन्त-प्रकम्पित शीतलता
फिर शिशिर-शीत की निष्ठुरता
औ' तब वसन्त के गुच्छ-गुच्छ नव खिले फूल
नूतन कलियाँ, पल्लव नवीन
मदिरा से मत्त पवन-झोके
तब ग्रीष्म-ज्वाल-उष्णता ज्वलित
जिसमें धरती तपती, उडती वाष्पो की नव आत्मा प्रसन्न
जो बनती रहती घटा घोर
नाचते देखकर मुग्ध मोर
इस तरह यहाँ होते रहते है परिवर्तन ।
प्रतिवर्ष यहाँ
कूकती कोकिला उसी सत्य की डाली पर 'मजरियो मे
चातकी उडा करती है उन्ही बदरियो मे
जीवन, यौवन परिवर्त्तित जन्म-मरण लेकर
निद्रा मे भर कर अमर जागरण के दर्शन ?

मिट्टी की ममता जीवन को घेरती स्वयं
फूलों को छोड मनुज जायेगा कहाँ और
फिर पता नही चाँदनी मिलेगी या कि नहीं
ऊषा-संध्या-लालिमा मिलेगी पुनः कभी ?
उठती अतृप्ति की वीणा से झंकार तृप्ति की ज्योति भरी
पर तृप्ति कहाँ मिलती मन को
इतनी सुन्दर यह धरती है, इतने सुन्दर है फूल यहाँ
काँटे भी कोमल लगते है जब मधुर पीर भर देते है
ये धूप-छाँह,
ज्वाला-शीतलता भरी एकता की शोभा से पूर्ण धरा
क्या नही मिला है धरती को ?
इसलिए मनुज करता जीवन-कामना दीर्घ
सचय करता है ज्ञान-शक्ति,
अनुभूति बुद्धि
तोड़ती स्वयं मै ही जीवन के फूल यहाँ
गूँथती हार प्राणी-प्राणो के फूलों से
अर्पित करती हूँ महाकाल को जो कि सृष्टि का प्रगति-पिता
मानव जिसकी छाया मे है परमाणु वृन्द
मानव जिसकी उज्ज्वलता मे विभ्राट स्वय
मुर्दे हो जाते सभी देह जब छू देती हूं प्राणो को
लेकिन विदेह का देह सँजोता प्राण-ज्योति
जिसको न छू सकी हूँ अब तक
है योग आत्म-विज्ञान एक
जिसके प्रयोग से जीवन होता ज्योतिपूर्ण
साधना-स्नात साँसो का यह व्यायाम शुद्धता देना है

दीर्घता आयु की वायु घेरती युग-युग तक
केवल शरीर-विज्ञान शक्ति का ही विकास
पर आत्मा का विज्ञान ज्ञान-निर्मित प्रकाश।
चाँदनी लूटती हुई घटा आ रही एक पश्चिम दिशि से,
मारुत के झोके आते रजनीगधा पर
सुविशाल वृक्ष को छाया मे बैठे है ज्योतिर्मय विदेह
जिनके नयनो मे ही सहस्र इतिहास-पृष्ठ खुलते जाते
प्राणो से कहता स्वय आज सम्पूर्ण ज्ञान—
अब कुछ भी शेष समझने को रह गया नही
धरती ने जीवन को सब कुछ दे दिया स्वय
जब प्रेम और कर्मादि योग हो गये पूर्ण
पर एक प्रश्न लडखडा रहा है न्याय लिये
इतनी अशान्ति क्यो मानव मे ?
मानव स्वतन्त्र कब हो सकता ?
साधारणत मानव जीता है भूख-प्यास का सत्य लिये
रे, कौन करेगा समाधान मानवता का ?
मानव-विभेद का अन्धकार है फैल रहा
अर्थाभिमान से मत्त स्वार्थ प्रभुता का विष फैलाता है
सम्राट एक विश्वास-केन्द्र जिसमे न सत्य की व्यापकता
आने वाला युग सोचेगा कर्मानुकूल
जब तक मानव की मुक्ति नही तब तक न धरा होगी
विमुक्त।

मानव आते है, जाते है
धरती अचला है उसी तरह षटऋतु-शोभित गति-परिवर्तन
मे फुल्ल मगन

कल्पना कुंज, साधना कुज, क्रीडा निकुंज सब कुछ धरती
आदमी यहाँ सब कुछ करता
वासना-प्रेम-साधना-सुविकसित छाया मे
माया इतनी है प्रबल कि सबको घेर रही
इतना है जग में अन्धकार
पर ज्योति-ज्वार भी उठता है तम-सागर से
जब ज्ञान-चन्द्र साधना-गगन-मन-प्राणो में उग जाता है
दुर्बलता और सबलता आकर टकराती
जब हवा परिस्थिति की चलती अति वेग लिये
मानव-मन मे कामना और तृष्णा के नव तूफान लिये
बुझ जाता है चेतना-दीप
हँस पड़ती संयमपूर्ण शक्ति
है योग कठिन पर भोग सहज
इसलिये कठिनता से रहते हैं दूर-दूर अधिकाश मनुज
वासना-वृक्ष की छाया मोहक होती है
औ' प्रेम-विटप के नीचे जलती अग्नि ज्वाल
जो तप-सा ही देती तन्मयता-घटा युगों के बाद यहाँ
वासना-विजय सपने की केवल एक कली है काम पूर्ण
पर प्रेम-विजय जीवन का सुरभित फूल एक आलोक पूर्ण
वह सुख है जो दे स्निग्ध शान्ति
वह दुख है जो दे अति अशान्ति !

चाँदनी लूटती हुई घटा आई सम्मुख
पावस के सारे फूल खिले है रजनी मे
औ' इसी चिन्तना-वेला मे आ गये व्यास
पर है विदेह अति ध्यान मग्न

ब्रह्मोत्सव मे आत्मा आनन्द मनाती है
कोई कहता है प्राणो मे—छोडो धरती
इतना उपभोग करोगे मिट्टी का महर्षि
अब तजो देह हे प्रिय विदेह
अब मिलो ज्योति मे वृद्ध जनक
आलोक स्वय कहता तुमसे
कितने वट वृक्ष लगाओगे अपने कर से
साँसो की ज्योति निकालो तुम भी हे विदेह !

ज्ञानी महान, ऋषि-पुण्य व्यास ने देख लिया
है मृत्यु खडी
श्रद्धानुरक्त है काल खडा
शिव का मन्दिर सम्मुख जिसमे जल रहा दीप झिलमिल-
झिलमिल
आते झोके, जाते झोके
वट का विशाल वह वृक्ष हिल रहा है रह-रह
झर रहे मेघ झर-झर-झर-झर
झाँकती चाँदनी उत्तर से जिस ओर हिमालय खडा-खडा-
सुनता है अपने मस्तक पर पार्वती-गीत
हो रहा भोर उस पार वहाँ
है यहाँ अभी भी शेष निशा, है विहग मौन निद्रित सुषुप्त
मिल रही ज्योति से ज्योति स्वय
हो रहा लुप्त सदिग्ध काल
औ' मृत्यु उडी जाती सुदूर
देखा विदेह का देह व्यास ने प्रथम बार जो शव-समान

श्रद्धा के दो आँसू छलके युग-नयनो मे
ढँक रहे कफन करुणा का उस पर व्यास स्वय !

यह मिथिला है
मिथिला की उज्ज्वल मिट्टी है जिस पर विदेह की लाश पड़ी!
देखता अरुण प्राची का स्वर्णिम द्वार खोल
किरणें करती है नमस्कार रे, बार-बार
इस धरती को
धरती के तपसी मानव को !



श्रद्धा के दो आँसू छलके युग-नयनो मे
ढँक रहे कफन करुणा का उस पर व्यास स्वय !

यह मिथिला है
मिथिला की उज्ज्वल मिट्टी है जिस पर विदेह की लाश पड़ी!
देखता अरुण प्राची का स्वर्णिम द्वार खोल
किरणें करती हैं नमस्कार रे, बार-बार
इस धरती को
धरती के तपसी मानव को !

